

नवीन अर्थशास्त्र की रूप-रेखा

हमारी आर्थिक प्रणाली (INTERMEDIATE ECONOMICS)

लेखक

प्रोफेसर केदारनाथ प्रसाद, एम० ए०

अर्थशास्त्र—विभाग,

पटना कॉलेज, पटना-विश्वविद्यालय

[सर्वाधिकार लेखक द्वारा सुरक्षित । लेखक की पूर्वानुमति के बिना कोई संस्था या व्यक्ति इस पुस्तक को एक पंक्ति भी समालोचना के अतिरिक्त कहीं भी उद्धृत या अनूदित नहीं कर सकता ।]

लेखक की अन्य अनुपम कृतियाँ

(१) भारत की वर्तमान आर्थिक समस्याएँ

(नवीन भारतीय अर्थशास्त्र का सारांश)—[पंचवर्षीय योजना की पृष्ठभूमि में भी लिखित, बिहार राज्य के आर्थिक जीवन के सविस्तार विवरण के साथ ७६ आर्थिक समस्याओं का विवेचन इस ग्रन्थ में किया गया है । मूल्य—१॥=)मात्र ।]

(२) आधुनिक अर्थशास्त्र—(उत्तर प्रा० सरकार द्वारा पुरस्कृत)

(३) नागरिकशास्त्र—(उत्तर प्रा० सरकार द्वारा पुरस्कृत)

(४) व्यावसायिक संगठन

(५) मुद्रा-शास्त्र और बैंक-शास्त्र

(६) आर्थिक अध्ययन (इन्टरमीडिएट आर्थिक सिद्धान्त)—
[वर्तमान पुस्तक के साथ पठनीय]

(७) सार्वजनिक अर्थशास्त्र एवं आर्थिक-पुनर्निर्माण (पूँजीवाद, समाजवाद तथा योजनाकरण की समस्याएँ)

(८) सार्वजनिक अर्थ (आय-व्यय)

(९) नागरिकता और सामाजिकता (मैट्रिक के लिए)

(१०) सम्पत्ति और समाज

(११) बिहार की वर्तमान आर्थिक समस्याएँ (शीघ्र तैयार होगी)

प्रथम संस्करण

जिस प्रति पर लेखक का हस्ताक्षर नहीं अजिल्द ३)

पाया जायगा वह चोरी की समझी जायगी । सजिल्द ३/)

प्रकाशक

प्राप्य

मुद्रक

श्री रामनंदन सिंह विनोद पुस्तकालय श्री परमानन्द राय, एम० ए०

ग्राम—रूपसपुर पटना—४

भारत-भूषण प्रेस

थाना—मसौड़ी उमेश पुस्तक मंदिर

राजेन्द्र पथ, पटना—१

नया टोला—४

समर्पण

वैसे ही विरल व्यक्तियों को, जो वर्तमान भीषण आर्थिक शोषण तथा अनैतिक एवं अनागरिक कार्यों से (यथा, जातीयता और साम्प्रदायिकता, ईर्ष्या और द्वेष, पक्षपात और बेईमानी, आदि कुभावनाओं, तथा खुशामद-पसन्दगी और अयोग्यता-प्रोत्साहन, प्रभृति दुर्गुणों से प्रेरित कार्य) इस राष्ट्र की रक्षा कर रहे हैं अथवा करेंगे, मेरी यह तुच्छतम कृति अत्यन्त समादर तथा विनम्रता के साथ समर्पित है ।

दो आवश्यक शब्द

मेरी प्रस्तुत पुस्तक उन लोगों के लिये लिखी गई है जो नवीन अर्थशास्त्र का प्रारंभिक ज्ञान उपलब्ध करना चाहते हैं। विषय-वस्तु को मैंने अध्यायों में विभाजित करना कृत्रिम समझकर उसको धाराप्रावाहिक रूप से रखा है, लेकिन उपयुक्त शीर्षक सर्वत्र दे दिए गए हैं। सूची-पत्र को अध्यायानुसार ही रखा गया है। १०१ विषयों को १८ अध्यायों में विभाजित किया गया है। एक तरह से मेरी यह वर्तमान पुस्तक “आधुनिक अर्थशास्त्र” की भूमिका और “आर्थिक अध्ययन” के सम्पूर्ण के रूप में लिखी गई है।

मेरे द्वारा इस ग्रन्थ के निर्माण का सर्वाधिक श्रेय श्रद्धेय डाक्टर श्री हरवंश लाल जी, पी० एच० डी० (लन्दन), अध्यक्ष, अर्थशास्त्र-विभाग, पटना विश्वविद्यालय की उस प्रकांड विद्वता और विशाल सहृदयता को है जिनके द्वारा मैं विगत वर्षों में अपने अध्ययन एवं अध्यापन कार्यों में अतिशय रूप से प्रभावित हुआ हूँ और यदि मैं इनसे लाभान्वित नहीं हुआ होता तो जिस रूप में मैं इस पुस्तक को पाठकों के हाथों में दे रहा हूँ उस रूप में शायद नहीं दे पाता। डाक्टर साहब के प्रति मैं अपना “भूक” ऋण प्रकट करना चाहता हूँ।

आज मैं ६ दिसम्बर, १९५१ की उस खतरनाक घटना की (जिससे, विश्वास है, मेरे अधिकांश पाठक अब तक अवश्य अवगत हो चुके होंगे) मानों पहली बरखी मना रहा हूँ जिसने पूँजीवादी व्यवसाय के निकृष्ट नैतिक पहलू को भी स्पष्ट करके मेरी आँखें सदा के लिए खोल दीं।

पटना कॉलेज,
पटना विश्वविद्यालय,
६ दिसम्बर, १९५२।

विनीत,
केदारनाथ

विषय-सूची

[CONTENTS]

प्रथम अध्याय

आर्थिक तथ्य तथा आर्थिक सिद्धान्त

(Economic Facts and Economic Theory)

- (१) अर्थशास्त्र की परिभाषा और उसका विषय-क्षेत्र (Definition and Scope of Economics)—१६-२०,
(२) आर्थिक नियमों की प्रकृति (Nature of Economic Laws)—२०-२२, (३) आर्थिक ज्ञान, स्रोत, पद्धतियाँ और अवस्थाएँ (Economic knowledge—Types-Sources, Methods & Stages)—२२-२५, (४) अर्थशास्त्र के अध्ययन की आवश्यकता (Necessity of Studying Economics)—२५-२७।

उत्पादन की क्रिया

(Productive Process)

द्वितीय अध्याय

उत्पादन तथा विनिमय

(Production and Exchange)

- (१) उत्पादन-क्रिया अथवा आर्थिक प्रणाली का अवलोकन और उसके लक्षण—मनुष्य उपभोक्ता, उत्पादक और श्रमिक के में (Looking at the Productive Process or Economic System Its characteristics—Man as a consumer, producer and worker)—३०-३२,
(२) श्रम-विभाजन या विशिष्टीकरण या विभिन्नीकरण (Divi-

sion of Labour or Specialisation or Differentiation)—३२-३६, (३) मूल्य की प्रणाली—बाजार या विनिमय की प्रणाली—मनुष्य क्रेता-विक्रेता के रूप में (The Price-System—Market or Exchange Economy—Man as a Buyer and a Seller)—३६-३७, (४) आर्थिक प्रणाली को पारस्परिक विनिमयों की प्रणाली के रूप में देखने की कठिनाइयाँ (Difficulties in regarding the Economic System as a System of Mutual Exchanges)—४५-४८ ।

उत्पादन के साधन

(Factors of Production)

तृतीय अध्याय

वस्तुएँ तथा सेवाएँ

(Goods and Services)

(१) मानवीय इच्छाएँ (Human Wants)—५८, (२) उपयोगिता (Utility)—५२, (३) उत्पादन (Production)—२७ (४) भौतिक और अभौतिक सेवाएँ—उत्पादक और अनुत्पादक श्रम (Material & Immaterial services—Productive & Unproductive Labour)—५०-५२, (५) वस्तुएँ (Goods)—४८-५०, (६) सम्पत्ति (Wealth)—५७, (७) विनिमय (Exchange)—२८-२९, (८) उत्पादन के साधन (Factors or Agents of Production)—८१-८२, (९) भूमि (Land)—८२-८३, (१०) श्रम (Labour)—८३-८४, (११) पूँजी (Capital)—८४-८७, (१२) क्या भूमि पूँजी है ? (Is Land Capital ?)—८७-८८, (१३) संगठन (Organisation)—८८ ।

चतुर्थ अध्याय

उपभोग तथा विनियोग

(Consumption And Investment)

(१) उपभोग (Consumption)—२७-२८, (२) उत्पादन बनाम उपभोग (Production vs Consumption)—२८, (३) क्रमागत सीमान्त उपयोगिता ह्रास का नियम (Law of Diminishing Marginal Utility)—५२-५३, (४) सम-सीमान्त उपयोगिता नियम (Law of Equi-Marginal utility)—५३-५५, (५) उपभोक्ता की बचत (Consumer's, Surplus)—५५-५७, (६) माँग और माँग का नियम (Demand & Law of demand—५६-६०, (७) माँग की लोच (Elasticity of Demand)—६०-६२, (८) पूर्ति और पूर्ति का नियम (Supply and Law of Supply)—६२, (९) एक वर्ष की परिभाषा (Definition of one year)—८८-८९, (१०) एक वर्ष में किसी समाज की उत्पत्ति या उपज निकालना (Calculation of Social Output in a year)—८६-८३ ।

पञ्चम अध्याय

जनसंख्या का अर्थशास्त्र

(Economics of Population)

(१) क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम (Law of Diminishing Returns)—६४-६६ (२) आबादी के दो सिद्धान्त (Two Theories of Population)—६६-६६ (३) अपाबादी का दुष्परिमाण (Evils of under-population)—६६-१००, (४) अत्याबादी के दुष्परिमाण (Evils of over-population)—१०० ।

षष्ठम अध्याय**जन-शक्ति का विभाजन**

(Allocation of Man-Power)

(१) चातुरी की विभिन्नताएँ, उनकी वजहें और उनके भेद (Differences in skills, Their causes & their kinds)—१०१-१०२, (२) सम्पूर्ण आबादी बनाम कार्यरत आबादी (Total Population vs Working Population —१०२-१०३, (३) कार्यरत आबादी के विभाजन के दृंग (Methods of Allocating Working Population)—१०३-१०६, (४) श्रम-पूर्ति के विभाजन को प्रभावित करनेवाली माँगगत और पूर्तिगत शक्तियाँ (Demand and Supply forces Influencing Allocation Man-Power)—१०६-१०८।

सप्तम अध्याय**श्रम का प्रयास अथवा निपुणता**

(Effort or Efficiency of Labour)

(१) श्रम का प्रयास या उत्पादकता या निपुणता के निर्णायक कारक (Determining Factors of the Efforts, Productivity or Efficiency fo Labour)—१०८-११०, (२) मशीनों का प्रभाव (Effects of Machinery)—११०-१११।

अष्टम अध्याय**उत्पादन का संगठन**

(Organisation of Production)

पूँजी में वैयक्तिक जायदाद

(Private Property in Capital)

(१) पूँजी में वैयक्तिक जायदाद (Private Property in

Capital)—१११-११२, (२) व्यावसायिक संगठन के रूपों में परिवर्तन (Changes in the Forms of Business Organisation)—११२, (३) व्यावसायिक संगठन के भेद (Forms of Business Organisation)—११३, (४) एक-प्रणेत व्यवसाय (One-man Business or Single—Entrepreneur)—११३, (५) साझेदारी (Partnership)—११३-११४, (६) संयुक्त पूँजी कम्पनी (Joint Stock Company)—११४-११७, (७) एकाधिकार (Monopoly)—११७-११९ ।

नवम अध्याय

उत्पादन में सरकारी भाग

(Role of Government in Production)

(१) उत्पादन के क्षेत्र में सरकारी भाग (Government Role in the Production)—११६-१२१, (२) एकाधिकार का नियन्त्रण (Control of Monopolies)—१२१-१२२ ।
सामाजिक तथा उसका वितरण (Social Income and its Distribution)

दशम अध्याय

राष्ट्रीय पूँजी अथवा सम्पत्ति

(National Capital or Wealth)

(१) राष्ट्रीय पूँजी या सम्पत्ति (National Capital or Wealth)—१२३-१२५, (२) राष्ट्रीय पूँजी बनाम राष्ट्रीय या सामाजिक उत्पत्ति या उपज (National Capital vs National or Social Output)—१२५-१२६ ।

एकादश अध्याय

राष्ट्रीय अथवा सामाजिक आय

(National or Social Income)

(१) राष्ट्रीय या सामाजिक आय (National or Social Income)—१२६-१२८, (२) (६२) राष्ट्रीय पूँजी बनाम राष्ट्रीय आय (National Capital vs National Income)—१२६, (३) राष्ट्रीय आय बनाम राष्ट्रीय या सामाजिक उत्पत्ति या उपज (National Income vs National or Social Output)—६३-६४ (४) राष्ट्रीय आय के आँकने के ढंग या प्रणालियाँ (Methods of Estimating National Income)—१३२, (५) आय-प्रणाली (Income Method)—१३२-१३४, (६) उपजों की गणना प्रणाली (Census of Products or Inventory Method)—१३४-१३५, (७) व्यय-प्रणाली (Expenditure Method)—१३५, (८) किसी देश की आयोपार्जन-शक्ति को प्रभावित करनेवाली आन्तरिक और बाह्य शक्तियाँ (External & Internal Influences Affecting Income-getting Power of a Country)—१३५-१३८ ।

द्वादश अध्याय

राष्ट्रीय आय तथा आर्थिक प्रगति

(National Income and Economic Progress)

(१) राष्ट्रीय आय का वास्तविक मूल्य (Real value of National Income or N. I. in Real Terms)—१६५-१६६, (२) कहाँ तक राष्ट्रीय आय राष्ट्र की आर्थिक प्रगति या सुख का मापक होती है ? (How Far National Income

is a Measure of Nation's Economic Progress or well-being ?)—१६६-१७० ।

त्रयोदश अध्याय

आयों की विषमता तथा बेकारी की समस्या
(Inequality of Incomes and Problem of
Unemployment)

(१) सम्पत्ति एवं आय के वितरण में असमानता (Inequality in the Distribution of Wealth and Income)—१४८-१५४, (२) बेकारी की समस्या (Problem of Unemployment)—१५४-१६० ।

चतुर्दश अध्याय

वस्तुओं तथा साधनों का मूल्यकरण—मूल्य सिद्धान्त
(Pricing of Goods and Services—
Theory of Value)

(१) वितरण का सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त (Marginal Productivity Theory of Distribution)—१२८-१२६, (२) बाजार मूल्य बनाम स्वाभाविक मूल्य—प्रतियोगिता में वस्तु के मूल्यकरण का सिद्धान्त (Market value vs Normal value—Pricing of Goods under Competition)—६३-६८, (३) मूल्य का सामयिक व्यय मूल्य-सिद्धान्त (Opportunity Cost Theory of Value)—६८-६६, (४) एकाधिकार मूल्य—एकाधिकार में वस्तु के मूल्यकरण का सिद्धान्त (Monopoly value—Pricing of Goods under Monopoly)—६९-७२, (५) दाम, व्यय, तथा उत्पादन (या पूर्ति) में अंतर्सम्बन्ध (Inter Relationship Between Price, Cost and Output or

Supply)—७२-८१, (६) वस्तुओं के मूल्यकरण का सिद्धान्त बनाम साधनों का मूल्यकरण सिद्धान्त (Pricing of Goods Theory vs Pricing of Factors Theory)—१२१-१३२ ।

पञ्चदश अध्याय

वितरण का सिद्धान्त

(Theory of Distribution)

(१) वितरण (Distribution)—२९, (२) लगान (Rent)—१७०-१७७, (३) मजदूरी (Wages)—१७७-१८५, (४) सूद (Interest)—१८५-१८९, (५) परिशिष्ट (Appendix)—१८६-१९२, (६) मुनाफा (Profits)—१९२-१९५

षोडश अध्याय

मुद्रा तथा बैंक

(Money or Currency and Banking)

(१) मुद्रा के भेद, उसके कार्य, उससे लाभ-हानि, उसकी गति (Money—Its Origin, Barter, Kinds of Money, Its Functions, Merits and Demerits and Its Velocity)—३७-४१, (२) पत्र-मुद्रा का आविर्भाव और विकास, उससे लाभ-हानि (Origins & Growth of Paper Money—Its Merits and Demerits)—४३-४४, (३) उपसंहार (Conclusion)—४१-४२, ४५, (४) बैंकों के भेद और कार्य (Kinds and Functions of Banks)—१३८-१४०, (५) मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन (Changes in the Value of Money)—१६०-१६२, (६) देशानांक (Index Number)—१६२-१६५ ।

सप्तदश अध्याय

सार्वजनिक आय-व्यय

(Public Finance)

(१) राजकीय कार्य (Functions of the state)—
 १४०-१४२, (२) ये कार्य कैसे पूरा होते हैं ? सार्वजनिक
 राजस्व के जरिए (How Are these Functions
 Performed ? Sources of Public Revenue)
 —१४२-१४३, (३) सार्वजनिक व्यय में वृद्धि होने के कारण
 (Causes of Increase in Public Expe-
 nditure)—१४३, (४) सार्वजनिक व्यय के प्रभाव (Effe-
 cts of Public Expenditure)—१४३-१४४, (५)
 सार्वजनिक व्यय के सिद्धान्त (Canons of Public
 Expenditure)—१४४, (६) सार्वजनिक कर-वसूली के
 स्मिथ-प्रवर्तित सिद्धान्त (Smithian canons of Public
 Taxation)—१४४-१४५, (७) कर लगाने के ढंग (Met-
 hods of Taxation)—१४५, (८) उत्तम कर-प्रणाली के
 लक्षण (Characteretics of A Good Tax Sys-
 tem)—१४५-१४६, (९) कुछ परिभाषाएँ (Some Defini-
 tions)—१४६-१४७, (१०) प्रत्यक्ष बनाम अप्रत्यक्ष कर
 (Direct vs Indirect Taxes)—१४७-१४८, ।

अष्टदश अध्याय

अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यकरण

(International Pricing)

(१) अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यकरण (International Pri-
 cing)—१४५-१४८, (२) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से लाभ

(Gains From International Trade)—१६८-२००,
 (३) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से खतरा (Dangers From
 International Trade)—२००-२०१, (४) स्वतंत्र व्यापार
 नीति बनाम व्यापार-संरक्षण नीति (Free Trade vs
 Protection Policy)—२०१-२०४, (५) अन्तर्राष्ट्रीय
 मूल्यकरण कैसे चलता है ? (How International
 Pricing takes place)—२०४-२०६, (६) पावना-लेखा
 अर्थात् शोधनाधिक्य (Balance of Payments or
 Accounts)—२०६-२१०, (७) असंतुलित पावना-लेखा का
 परिणाम (Consequences of Disequilibrium
 in Balance of Payments)—२१०-२११, (८) विनिमय-
 दर का निर्धारण (Determination of the Exchange-
 Rate)—२११-२१४, (९) पावना-लेखा के असंतुलन को दूर
 करने के यत्न (Methods of Eliminating Disequi-
 librium in the Balance of Payments)—२१४-
 २१८ ।

कृपया शुद्ध कर लें

पृष्ठ संख्या	पंक्ति संख्या	अशुद्ध रूप	शुद्ध रूप
४३-४४	६	इन्कार नहीं	इन्कार
६९	६	अपबादी	अपाबादी
११२	२	हाथ	हाय
१३३	१०	अप्रत्यक्ष	अप्रत्यक्ष
१३७	७	इदकी	इन दी
१५१	६	के	की
१५३	१४	खालिस	बेखालिस
१७०	१४	जो	सो
१७३	२२	“वे कहते हैं कि” के पहले यह वाक्य छूट गया है—“कुछ लोग कहते हैं कि लगान हस्तान्तर आय (टैन्स-फर अर्निङ्ग) हैं” ।	
१७७	४	की	भूमि की
१७७	१४	इकमप्लिसीट	इमप्लिसीट
२००	१८	के अन्त में छूट गया है—“के बराबर होगी”	
२०६	१५	आघात और निर्यात शब्द फिजूल छपे हैं ।	
२१४	३	संतुलन के बदले असंतुलन होना चाहिए ।	
२१७	१२	उसका	उनका
२१७	१४	धूवी	धूलि

४२ के बाद जो चार्ट लगाया गया है उसपर ४२-४३ छपा है । ४३-४४ होना चाहिए ।

१६६ पृष्ठ(के नीचे ३री और ४थी पंक्ति को इस तरह पढ़िए-

वर्षों की राष्ट्रीय आयों का लगाव

दो वर्षों के मूल्य-स्तरों का लगाव

आप अर्थशास्त्र के अध्येता हैं। हम आपको अर्थशास्त्र के सिद्धांतों के विषय में कुछ कहने जा रहे हैं। या तो आप इनके बारे में एक-दम कुछ नहीं जानते, या आप प्रारंभिक सिद्धान्तों के बारे में पढ़ चुके हैं। फिर भी, आपके दिमाग में कई सिद्धान्तों और तथ्यों के बारे में उलझन है जिसे आप अभी तक सुलझा नहीं पाए हैं। तगड़ी पुस्तकों के पढ़ने से ज्ञानार्जन विशद होता है। लेकिन उनको पढ़ने के पहले या पीछे एक हल्की-सी पुस्तक का पढ़ लेना अच्छा हो सकता है। एक छोटी पुस्तक में विचारों के निचोड़ संक्षिप्त रूप में दिए जा सकते हैं। लेकिन यह कठिन काम है।

अर्थशास्त्र कोई सरल विषय नहीं है। पहली नजर में यह कोई निश्चित विषय ज्ञान भी नहीं पड़ता। बचपन से ही हर आदमी अर्थ-शास्त्र के बारे में कुछ-न-कुछ जानता है। यह बात उसके लिए सहायक भी हो सकती है, और बाधक भी। सहायक इसलिए कि इससे विशेष जानकारी प्राप्त करने में सुविधा होती है। बाधक इसलिए कि आदमी इस पर जिद्द भी कर सकता है। लेकिन वह भ्रामक हो सकती है। कॉलेज छात्रक उम्र के जितने लोग हैं वे सभी किसी बच्चे को छोटी चौअन्न की बदले में किसी से बड़ी दुअन्न लेने के लिए जिद्द करते देखकर या अनपढ़ बदमाशों को किसी व्यक्ति से सादी चेक-बही छीनते देखकर हँस सकते हैं। यह क्यों? इसीलिए कि वे मुद्रा के सम्बन्ध में कुछ ज्ञान रखते हैं। परन्तु अधूरा ज्ञान बड़ा खतरनाक होता है। पूँजी एक अत्यन्त छोटा शब्द है, लेकिन अर्थशास्त्र में दस तरह से उसका अर्थ लगाया जाता है। यह शब्दों की निरंकुशता

है। फिर भी हमलोग निर्लिप्त रूप से इनके प्रति प्रतिक्रिया शायद ही करते हैं। आर्थिक जगत् उतना ही जटिल है। यही कारण है कि अर्थशास्त्र में पहला पाठ जो हम सीखते हैं वह यह है कि ऊपर से देखने पर चीजें जैसी जान पड़ती हैं वास्तव में वे वैसी नहीं।

अर्थशास्त्र की परिभाषा और उसका विषय-क्षेत्र

आमसे पूछा जाय कि बिल्ली क्या चीज है तब आप क्या उत्तर देंगे? बाघ का बच्चा भी तो बिल्ली से बहुत कुछ मिलता-जुलता होता है। किसी चीज की परिभाषा देना बहुत ही कठिन और अना-कर्षक काम है। अर्थशास्त्र के साथ भी वही बात है। उसकी परिभाषा को जानने की कोशिश करना छोड़कर यदि उसके विषय-क्षेत्र को जानने की कोशिश की जाय तो वही अच्छा होगा। और जितने नई धारा के लेखक हैं वे ऐसा ही करते हैं। वे कहते हैं कि आप-जैसे बच्चों को अर्थशास्त्र की परिभाषा पढ़ाना या बताना ठीक नहीं है। अर्थशास्त्र की परिभाषा प्रत्येक अर्थशास्त्री अपने ढंग से करता है। जितने अर्थशास्त्री हैं, उतनी परिभाषाएँ हैं। इसीलिए एक अर्थशास्त्री ने ऊबकर कहा है कि अर्थशास्त्र वही है जो अर्थशास्त्री कहते हैं। लेकिन हम कहना चाहेंगे कि अर्थशास्त्र वह विषय है जिसमें हम मनुष्य के उन कार्यों का अध्ययन करते हैं जिनका प्रयोजन यथासंभव अच्छी तरह से जीने से है, भले ही वे मुद्रा के रूप में व्यक्त होते हों (अर्थात् जिनका प्रकटीकरण आदान-प्रदान में होता है, जो मुद्रा की तुला पर कसते हैं) या नहीं। अर्थशास्त्र एक विज्ञान है। विज्ञान होने के कारण वह मानवीय ज्ञान का एक सम्बद्ध कोष है। यह एक सामाजिक या मानवीय विज्ञान है। यह मानवीय आचरण से संबंधित है। यह मानवीय आचरण का उल्लेख वैज्ञानिक ढंग से करता है। राजनीति से यह सबसे अधिक निकट है। इसका पुराना नाम राज-नैतिक विज्ञान था जो सरकार को कला और यह-विषयक कार्यों के

संचालन की शिक्षा देता था। १७७६ ई० तक यह कला ही बना रहा है। तब से स्मिथ के हाथों से यह विज्ञान के रूप में निकला। यह सम्पत्ति का विज्ञान बना। इसमें मिथ्या कल्पनाओं के आधार पर धन के उत्पादन और वितरण का विवेचन हुआ। सामान्य मनुष्य के बदले आर्थिक मनुष्य और उसका आर्थिक आचरण ही इसका अध्ययन-केन्द्र था। १८वीं और १९वीं शताब्दी में यह कुबेर की गाथा बना रहा। धन ही सुख का मूल माना गया। फिर मार्शल आए और उन्होंने इसे जीवन के सामान्य व्यवसाय में मानव-जाति का अध्ययन बताया। इसे धन का अध्ययन तो करना ही है लेकिन इसको मनुष्य के जीवन के एक पक्ष का अध्ययन अधिक ध्यानपूर्वक करना है। इसमें भलाई के भौतिक पदार्थों की प्राप्ति और उपयोग का विचार होता है। इसमें वैयक्तिक तथा सामाजिक कार्य-कलाप की परीक्षा होती है। ऐसा मत चला। इससे अर्थशास्त्र में धन तथा हित दोनों को स्थान मिला। १८३४ ई० तक ऐसा ही समझा गया। रॉबिन्स ने मार्शल के भौतिकवाद की आलोचना की और बतलाया कि मानवीय आचरण को आर्थिक और गैर-आर्थिक दो भागों में बाँटना कृत्रिम है। जीवन में ऐसी बात नहीं। अभाव मानवीय आचरण की कुंजी है और अभाव हर वस्तु का हो सकता है। हमारी इच्छाएँ हमारे सीमित साधनों से अधिक हैं और हमें इनका ऐसा उपयोग करना है कि हमें सर्वाधिक संतोष मिल सके। सीमित साधनों का वैकल्पिक उपयोग हो सकता है। यही बड़ी बात है। हमारी सभी इच्छाएँ समान अंश में तीव्र नहीं। यह भी एक अच्छी चीज है। अर्थशास्त्र चयन का विज्ञान है। हमें सोच-समझकर, चुन-चानकर काम करना है। समय, जीवन, पैसा, आदि—सब कुछ अभावपूर्ण हैं। अर्थशास्त्र अभाव का विज्ञान है। वह चयन का अध्ययन करता है। हम पूर्व-वताएँ निर्धारित करते हैं। अर्थशास्त्र घर-परिवार संभालने-चलाने का विज्ञान है। १८४२ ई० में हम पाते हैं हिकस मार्शल की बात को दुहराते

हैं। अर्थशास्त्र में हम मानवीय आचरण के एक खास पहलू का अध्ययन करते हैं। व्यवसाय में मनुष्यों का जो आचरण है वही अर्थशास्त्र का विषय है। व्यावसायिक कार्यों का चित्र हमारा अर्थशास्त्र है। हम वैज्ञानिक दृष्टि से, चतुर्दिक दृष्टि से इस आचरण का विश्लेषण करते हैं और व्यवसाय को व्यापक अर्थ में रखते हैं। क्रय और विक्रय दोनों व्यावसायिक या आर्थिक प्रश्न हैं। रोजी का प्रश्न, कर देने का प्रश्न, मुनाफा कमाने का प्रश्न—प्रत्येक के दो पक्ष हैं। प्रत्येक में दो दल या व्यक्ति शामिल हैं। आर्थिक प्रश्न ही सबसे अधिक प्रमुख हैं। अर्थशास्त्र में हम सभी कार्यों का अध्ययन कर सकते हैं, चाहे उनको मुद्रा रूपी मापक में परिणत किया जा सके अथवा नहीं। अर्थशास्त्र एक महज किसान के कार्यों से लेकर एक बड़े व्यापारी के कार्यों का अध्ययन करता है। लोग क्यों कोई काम करते हैं? अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए। आवश्यकताओं की पूर्ति आज की दुनिया में बिना पैसा के असंभव है। इसलिए 'अर्थ' ही सबसे बड़ा है। अर्थशास्त्र मूल्यों का, सापेक्षिक मूल्यांकन का विज्ञान है। प्रत्येक आर्थिक कार्य—उत्पादन, उपभोग, विनिमय या वितरण—मूल्यों का खेल है। वैयक्तिक आय-व्यय हो या सार्वजनिक (या राजकीय) आय-व्यय, सबके पीछे अर्थ का जादू काम करता है।

अर्थशास्त्र में हम संसारी जीव का अध्ययन करते हैं। यह इसलिए कि ऐसा करने से संसारी लोगों को इससे प्रकाश मिल सकता है। और प्रकाश से कभी फल की भी उत्पत्ति हो सकती है। यों तो चयन का प्रश्न रॉबिन्सन क्रूसो के साथ भी है और अर्थशास्त्री वहाँ भी उसका अर्थशास्त्र लिख सकता है। युद्ध-काल हो या शान्तिकाल, पूँजीवाद हो या समाजवाद हो या सम्मिश्रित अर्थ-प्रणाली हो, हर स्थिति और हर परिवेष्टन में अर्थशास्त्र चयन की दृष्टि से अध्ययन कर सकता है। अर्थशास्त्र का विषय-क्षेत्र ऊपर लिख चुके हैं। अर्थ-

शास्त्र का विषय-क्षेत्र वही है जो अर्थशास्त्र है; जिसके लिए है। इसमें उत्पादन; उपभोग, वितरण और विनिमय का अध्ययन करते हैं। चाहे कोई मामूली आदमी हो या सरकार हो, हर के सामने ये ही कार्य आते हैं। उत्पादन के अन्तर्गत वितरण और विनिमय आ जाते हैं। उपभोग अलग चीज है। इसीलिए आधुनिक अर्थशास्त्र में उत्पादन का सिद्धान्त और उपभोग का सिद्धान्त येही दो सिद्धान्त हैं। कुछ लोग तो अर्थशास्त्र को मूल्य का सिद्धान्त ही मानते हैं। चाहे जो हो, अर्थशास्त्र का ताल्लुक इन्हीं से है।

इच्छाएँ इसकी आत्मा हैं। एक स्कूलवाले कहते हैं कि इच्छाओं का चुनाव और उनकी संतुष्टि ही सब कुछ है। दूसरे स्कूलवाले कहते हैं कि इच्छाओं का न्यूनीकरण ही सर्वस्व है। दोनों अपने-अपने मानी में ठीक हैं। आदमी किसी भी दिशा में इच्छाओं को कम करता ही है, चाहे वह सिद्धान्तवश ऐसा करे या लाचारी के कारण। आदमी के अन्दर प्रयोजन होते हैं। उनमें आर्थिक प्रयोजन अधिक उग्र होते हैं; यद्यपि प्रयोजनों का वर्गीकरण करना कठिन ही नहीं, आपदजनक भी है। अर्थशास्त्र में धन का भी अध्ययन होता है और हित का भी। धन साधन है। हित साध्य है। लेकिन धन (सम्पत्ति) में जो वस्तुएँ और सेवाएँ आती हैं उनके दोष-गुण के पीछे हम नहीं दौड़ सकते। उसी तरह हम हित की भी विशेषता नहीं बतला सकते। हम नहीं कह सकते कि अमुक वस्तु या सेवा हितकारक है और अमुक वस्तु या सेवा अहितकारक। हित सांसारिक अर्थ में स्वीकार किया जाता है। सामान्य हित में आर्थिक हित के साथ कई प्रकार के हित आ सकते हैं जिनमें आध्यात्मिक हित अग्रगण्य होगा। हित एक विशेषणहीन मान्यता है। वस, इतना ही हमारे लिए अलम् है। मार्शल ने न तो अर्थशास्त्र का विषय-क्षेत्र कम कर दिया, न रॉबिन्स ने उसको बड़ा ही दिया। यह हमारे सोचने का, देखने का फेर है। अर्थशास्त्र का विषय-क्षेत्र वही रहा। जो

आदि में था वह अभी भी है। मुद्रा को मार्शल ने वह केन्द्र माना है जिसके चारो ओर आर्थिक विज्ञान अर्थात् आर्थिक कार्य परिक्रमा करते हैं। उन्होंने मान लिया कि मुद्रा के जरिए उपयोगिताओं या संतोषों की व्यक्ति-व्यक्तिगत तुलना हो सकती है; अर्थशास्त्र के नियम बन सकते हैं। रॉबिन्स ने इसको गलत ठहराया क्योंकि उपयोगिता मनोवैज्ञानिक और व्यक्तिनिष्ठ चीज है और उसको मुद्रा के रूप में ठीक-ठीक व्यक्त कर देना विश्वासार्थ नहीं हो सकता। रॉबिन्स अपने मानी में ठीक हैं। संतोष को नापने-जोखने की कोई जरूरत भी नहीं। हम इतना ही कह सकें कि किस वस्तु या सेवा से, या एक ही वस्तु या सेवा की भिन्न-भिन्न इकाइयों से हमें कम, अधिक या समान संतोष मिलता है तो इससे हमारा सैद्धान्तिक मतलब पूरा हो जा सकता है। लेकिन व्यावहारिक जीवन में तो इससे काम नहीं चलेगा। वहाँ तो नाप-जोख का सहारा लेना ही पड़ेगा। फिर भी, यह मानने में निन्दा की बात ही क्या है कि मुद्रा रसायन-तुला की तरह पूर्ण नहीं। वह स्थूल और अपूर्ण है। अर्थशास्त्र के तीन पक्ष हैं—यथार्थवादी, आदर्शवादी, प्रयुज्य या कलागत। पहले पक्षानुसार 'जो है और जो प्रवृत्ति है' उसका अध्ययन होता है, दूसरे के अनुसार 'जो होना चाहिए' उसका अध्ययन होता है और तीसरे के अनुसार आदर्श को प्राप्त करने के क्या माग या साधन हैं उनको दर्शाया जाता है। एक सत्यम्, दूसरा शिवम् और तीसरा सुन्दरम् का प्रतीक है। अर्थशास्त्र का यथार्थवादी पक्ष आर्थिक नियमों को निकालने में व्यस्त रहता है।

आर्थिक नियमों का स्वरूप

वह प्राकृतिक विज्ञानों की तरह घटनाओं या तथ्यों के महत्तम समापवर्तक को निकालता है। इसके लिए कुछ पूर्व मान्यताएँ कर लेता है। लेकिन इस तरह जो आर्थिक नियम निकाले जाते हैं

वे स्वाभाविक विज्ञानों के नियमों की तरह सत्य नहीं होते। लेकिन वे भी घटनाओं या तथ्यों के कारण-कार्य लगाव को बताते हैं। चूँकि मनुष्य का स्वभाव विचित्र है, आर्थिक आचरण जटिल होते हैं, मनुष्य आर्थिक प्रयोजनों का ही पुतला नहीं बल्कि अन्य प्रयोजन भी इन प्रयोजनों को परिचालित करते हैं, मनुष्य सजीव है जहाँ कि प्राकृतिक विज्ञानों के अध्ययन-विषय साधारण तथा निर्जीव हैं, आर्थिक आचरण के प्रति केवल निरीक्षण हो सकता है, परीक्षण सफल नहीं होता, और निरीक्षण भी सीमित होता है, मुद्रा-रूपी मापक का अपना मूल्य स्थिर नहीं रहता, समाज में धन तथा आय के असमान वितरण होने के कारण मुद्रा धनी-गरीब की इच्छाओं और आर्थिक क्रियाओं की तीव्रता को निष्पक्ष रूप से, सच्चे रूप में नहीं जाहिर कर सकती, इसलिए अर्थशास्त्र में जो नियम प्रतिपादित किए जाते हैं वे सापेक्षिक होते हैं, वे देश और काल से परिमित होते हैं। इसीलिए उन्हें “प्रवृत्तिओं का द्योतक” कहा गया है और उनकी तुलना गुरुत्वकर्षण के नियम से नहीं करके अधिक पेचीदा और अनिश्चित लहरों के नियमों से की जाती है। प्राकृतिक विज्ञान के नियम भी पूर्वमान्यताओं पर आधारित होते हैं और ज्योतिष की कई भविष्यवाणियाँ भी भूठी साबित होती हैं। इस दृष्टि से आर्थिक नियमों की भर्त्सना नहीं की जा सकती। पुराने अर्थशास्त्रियों ने यहो गलती की कि उनलोगों ने मनुष्य को स्थिर वस्तु मान लिया और सोच लिया कि आवेष्टन का प्रभाव उसपर नहीं पड़ता, और तब उन्होंने जो नियम निकाले उनको उन्होंने सब समय और सब देशों के लिए सही बताया। आज के अर्थशास्त्री ऐसी बात नहीं मानते।

यथार्थवादी पक्ष में केवल साधनों को निर्वाचित या दिए ध्येयों में अभियोजित करने का अध्ययन होता है। आदर्शवादी पक्ष में साधनों के साथ साध्यों का भी विवेचन होता है। कौन अच्छा साध्य है, कौन बुरा इसपर विचार होता है। इसमें प्रकाश की अपेक्षा

फल को अधिक महत्त्व दिया जाता है। आदर्श पहले से भी रह सकते हैं अथवा नए आदर्श भी बनाए जा सकते हैं। कुछ लोग साध्य-अथवा इच्छा की अच्छाई-बुराई की बात करना नहीं चाहते। उनके लिए रसोईया की सेवा का वही महत्त्व है जो नर्तक की सेवा का है। उनके लिये कविता बनाना या आलू उपजाना बराबर अर्थ रखता है। वे कहते हैं कि अर्थशास्त्री को 'क्या होना चाहिये' इसको कहने का कोई अधिकार नहीं। यह राजनीतिज्ञों या नीतिशास्त्रियों का काम है। वे मान्यताओं या मूल्यों की खोज करते हैं। अर्थशास्त्री को तो तथ्यों से मतलब है। अगर अर्थशास्त्री कोई सलाह दे और उसको कार्यान्वित करने पर पूर्वापेक्षित बात न घटे तो इससे अर्थशास्त्री की बदनामी होगी और आम जनता गुमराह होगी। अर्थशास्त्र को तो 'संतुलन' का अध्ययन करना है और संतुलन अच्छा या बुरा नहीं होता। लेकिन इन लोगों की बात को इस कठिन दुनिया में, जिसमें मानवता तकलीफ में है, बहुमत मानने के लिए तैयार नहीं। इसीलिये अर्थशास्त्र आज आदर्शवादी अधिक हो गया है। इतना ही नहीं, अर्थशास्त्र के बहुत से ग्रन्थ तो यह भी बतलाते हैं कि कैसे बताये आदर्श को उपलब्ध किया जा सकता है। वे प्रयुज्य पद या कला के रूपक हैं। कला का सीधा संबंध क्रिया से, व्यवहार से है। जो एक अदना चित्र भी नहीं बना सकता वह कलाकार नहीं। आज के कितने अर्थशास्त्री तो व्यावहारिक अर्थशास्त्री कच्चाकार बन गए हैं और अपने सुभावों से देश के राज-काज में मदद पहुँचा रहे हैं।

आर्थिक ज्ञान

अर्थशास्त्री को जानकारी कहाँ से प्राप्त होती है? वह सीधे व्यवसायियों के पास या लोगों के पास दौड़ नहीं जाता क्योंकि इसमें खतरा है। लोग अनाप-शनाप बातें उससे कहेंगे जिनसे उसका मतलब नहीं सध सकता। बहुत लोग घटनाओं और तथ्यों को याद भी नहीं

रखते। कितने सम्बद्ध रूप में कुछ कह भी नहीं सकते। इसीलिये अर्थशास्त्री पहले प्रश्नावली तैयार कर सकता है। वह जिस कार्य या घटना की जानकारी प्राप्त करना चाहता है उसको वह एक 'विश्व' के रूप में देखेगा। सम्पूर्ण जन-गणना-सेनसस-विधि का उपयोग करना चूँकि अधिक मिहनत और पैसा खपानेवाला है इसलिये साधारण-तथा निरुद्देश्य आदर्शवादी-रेनडम् सैम्पलिङ्ग-विधि का आश्रय लिया जाता है। जरूरी इकाइयाँ चुन ली जाती हैं और उन्हीं से जानकारी प्राप्त की जाती है। यह परिमार्जित तरीका है। इससे सार्थक उत्तर मिलते हैं और सफलता भी अधिक मिलती है।

आर्थिक ज्ञान के दो भेद होते हैं—गुण-प्रधान और संख्या-प्रधान। गुण-प्रधान आर्थिक-ज्ञान में संस्थावादी दृष्टिकोण होता है। अर्थशास्त्री जायदाद के नियमों को, व्यावसायिक संगठन को, पारिवारिक संगठन को जानना होगा। उसे व्यक्तिगत जीवन की अपूर्णताओं को समझना होगा। सरकार का आर्थिक प्रणाली में क्या स्थान है, वह क्या करती है—यह भी जानना जरूरी है।

व्यावसायिक संगठनों के द्वारा आर्थिक आँकड़े प्रकाशित होते हैं। सरकार भी उन्हें प्रकाशित करती है। मजदूर-संघ भी इस क्षेत्र में काफी काम करते हैं। बाजारों की रिपोर्टें भी निकलती हैं। इस तरह से हर देश में काफी मसाला अर्थशास्त्री को हाथ लग जा सकते हैं लेकिन उनको इकट्ठा करने में कठिनाई हो सकती है, किसी देश में बहुत, किसी देश में कम। आज का युग ही आर्थिक आँकड़ों का युग है। लेकिन हमें इस कथन को नहीं भूलना चाहिये कि आँकड़े झूठ नहीं बोलते लेकिन लोग उनको इस तरह से तोड़-मरोड़ सकते हैं कि वे झूठी बात को भी साबित कर दें। अर्थशास्त्री भी ऐसा कर सकते हैं, राजनीतिज्ञ भी ऐसा कर सकते हैं। अतएव अर्थशास्त्रियों को जहाँ-कहीं से भी आँकड़ा मिले उसके ऊपर स्वयं विचार करना चाहिये

और उसे काँट-छाँट कर, ठीक-ठाक कर लेना चाहिये। इसके बाद उस काम में लाना चाहिये। तथ्यों को अपनी वाणी नहीं। अर्थशास्त्री उनका लोभी होता है। उसे उनको वाणी देना चाहिये। हाल में अर्थशास्त्र पर जितनी पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं वे सभी सामाजिक हिसाब-किताब के आधार पर लिखी गई हैं। उनमें हर विषय को आँकड़ों के द्वारा स्पष्ट किया गया है। इससे वह निर्जीव नहीं रह जाता। उसमें जीवन की गति आ जाती है।

आर्थिक अध्ययन के तीन ढंग हैं—निगमन पद्धति, आगमन पद्धति और गणितगत पद्धति। निगमन पद्धति में 'सामान्य से विशिष्ट की ओर', 'कार्य से कारण' की दृष्टि से अध्ययन होता है। मनुष्य, उसकी प्रवृत्ति और उसके समाज के बारे में जो आम नियम हैं उन्हीं से आर्थिक नियम निकाले जाते हैं। पहले कुछ पूर्व मान्यताएँ कर ली जाती हैं। 'अगर ये कारण हैं तो ये कार्य होंगे।' यही इसका सूत्र है। यह सीधा-सादा ढंग है। आगमन पद्धति में हम 'विशिष्ट से सामान्य', 'कार्य से कारण' का विश्लेषण करते हैं। इसमें निरीक्षण की प्रधानता रहती है। इसमें अर्थशास्त्री बाह्य जगत् का अवलोकन करता है। यह अधिक विश्वासस्पद पद्धति है। अगर मान्यताएँ गलत हैं तो निगमन पद्धति के निष्कर्ष गलत होंगे। अगर आँकड़े या तथ्य अपर्याप्त हैं तो आगमन पद्धति के निष्कर्ष दोषपूर्ण होंगे। गणितगत पद्धति में बीजगणित या ज्यामिति या आँकड़ाशास्त्र की सहायता ली जाती है। इसमें आर्थिक नियमों को सूत्रों के रूप में प्रकट करने में सहुलियत होती है। गणित सबसे अधिक ठीक विज्ञान है। इसीलिए इसकी ख्याति सर्वाधिक है। अर्थशास्त्र भी वैसी ही ख्याति चाहता है। इसी की लालच में वह गणित का परिधान पहना चाहता है। लेकिन अर्थशास्त्री को गणित को अपना मझा नहीं बनाना चाहिये। उसका मझा तो आर्थिक जीवविद्या है। अर्थशास्त्री को गणित के प्रतीकों को समझना चाहिये लेकिन उसे शब्दों में बोलना चाहिये।

आर्थिक ज्ञान प्राप्त करने के चार दर्जे हैं—आर्थिक सिद्धान्त, आर्थिक आँकड़ाशास्त्र, अनुमान, और आर्थिक इतिहास या प्रयुज्य (वर्णनात्मक) अर्थशास्त्र । यद्यपि ये पृथक् विभाग हैं तथापि वे किसी निष्कर्ष पर पहुँचने के निमित्त सम्मिलित कर लिये जाते हैं । आर्थिक सिद्धान्त मानसिक अनुशासन का काम करता और मस्तिष्क को साफ रखता है । यह तथ्यों से पूछने के लायक प्रश्नावली तैयार करता, अध्ययन के उद्देश्य को ठीक करता, सार्थक तथ्यों को विलगाता, समानताओं को निकालता है । इसके लिए सामान्य बुद्धिमत्ता और दैनिक ज्ञान की आवश्यकता है । इसकी अधिकता होने से उलझन पैदा होती है, कार्य बोझिल हो जाता है । आर्थिक आँकड़ाशास्त्र में तथ्यों का संग्रह होता है जिससे सिद्धान्तों की सूखी हड्डियों में नई जान आती है । वे भूमिका का काम करते हैं । वे आर्थिक ज्ञान के एक प्रधान स्तम्भ हैं । अनुमान-कार्य आर्थिक आँकड़ा-शास्त्र की एक उत्पत्ति है । कभी आँकड़े कच्चे और अधूरे होते हैं । तब हमें अनुमान करना होता है । तर्क बुद्धि, कल्पना, अनुभूति, समझ-बुद्धि, आदि आवश्यक गुण हैं । अनुमान से प्रगति होती है । आर्थिक इतिहास की अवस्था में तथ्यों को इस तरह क्रमबद्ध किया जाता है कि उनसे हमें निष्कर्ष मिलता है । बिना इसके अर्थशास्त्र तथ्यों का शुष्क संग्रह हो जा सकता है । तथ्यों को इतिहास की दृष्टि से देखना अनिवार्य है । इसकी कमी से आर्थिक सिद्धान्त को नहीं समझा जा सकता । किसी भी विषय का ऐतिहासिक पृष्ठाधार होता है । क्रमबद्ध किए तथ्य स्वयं बोलते हैं । क्रमहीन तथ्य भेड़ के मांस की तरह लगते हैं ।

“Economics without History has no root.
Economic History without Economics
has no fruit”

अर्थशास्त्र के अध्ययन की आवश्यकता

आर्थिक पर्यवेक्षण, मस्तिष्क की स्पष्टता, तथ्यों के निर्वाचन, विचारों

के स्पष्टीकरण, आदि के लिए इसकी आवश्यकता है। यह व्यावसायिक जगत् में प्रचलित कितने शब्दों के गूढ़ अर्थ के ऊपर प्रकाश डालता है। केवल अर्थ ही नहीं मालूम होते हैं, उनकी सामाजिक अर्थवत्ता भी अभिव्यंजित होती है। आजका अर्थशास्त्र राजनैतिक अर्थशास्त्र है। वह इस बात पर विचार करता है कि सरकार कैसे आर्थिक भलाई बढ़ाने के लिए कुशल उत्पादन एवं न्याय-सम्मत वितरण के लिए योजनाकरण कर रही है। अच्छी नागरिकता के लिए भी यह जरूरी है। उपभोक्ताओं, उत्पादकों, मजदूरों और शासकों—सबको अर्थशास्त्र कुछ काम की बातें सीखा-बता सकता है। तार्किक शिक्षण के लिए और सामयिक घटनाओं के रहस्य को समझाने के लिए अर्थशास्त्र का ज्ञान होना चाहिये। अर्थशास्त्र हमें नहीं बतलाता कि क्या करने से और किस तरह करने से कितना धन मिलेगा लेकिन वह हमें गलतियों से बचने में हमारी जरूर मदद करता है। यह पारस पत्थर नहीं है, लेकिन यह मुनार की कसौटी जरूर है। यह स्वर्णयुग प्राप्त करने का अकेला साधन नहीं, मगर आर्थिक पुनर्निर्माण में जो साधन काम में आयेंगे, उनमें से यह एक बहुत ही प्रबल साधन है।

आज विज्ञान का जमाना है। टेकनिक का सितारा बड़ा तेज है। आर्थिक समस्या वहाँ पैदा होती है जहाँ सीमित साधन हैं लेकिन उनका बहुविधि उपयोग हो सकता है और जहां बहुत-सी आवश्यकताएँ हैं। टेकनिक की समस्या वहाँ पैदा होती है जहां सीमित साधन से किसी एक आवश्यकता की पूर्ति करना है। शहर में प्रचुर जल की व्यवस्था करना एक टेकनिकगत समस्या जरूर है लेकिन यह एक आर्थिक समस्या भी है। अतएव अर्थशास्त्र के कुछ नियम टेकनिकगत प्रयोगों पर भी खड़े हैं। जैसे-जैसे मानव-जीवन का जो तथाकथित संग्राम है अधिकाधिक तीव्र होता जा रहा है वैसे-वैसे आर्थिक समस्याएँ और टेकनिकगत समस्याओं के मध्य की खाई कम होती जा रही है।

अर्थशास्त्र कॉलेज में पढ़ाये जाने वाले विषयों में सबसे अधिक लोकप्रिय विषय है। जीवन से उसका प्रत्यक्ष संबंध है। यही इसका मूल हेतु है।

उत्पादन

उत्पादन धन का होता है। धन में अभावपूर्ण, उपयोगिता-सम्पन्न, हस्तान्तर-योग्य, वाह्य वस्तुएँ या सेवाएँ आती हैं जिनका विनिमय-गत मूल्य होता है। उत्पादन उपयोगिताओं का होता है। उपयोगिताओं की सृष्टि तीन तरह की होती है—रूपगत, स्थानगत और काल-गत। उत्पादन वह कार्य है जो विनिमय के माध्यम से दूसरों की इच्छाओं को संतुष्ट करने के लिए सम्पादित किया जाता है। गाय दुहना, दूध को मलकिनी के पास पहुँचाना और मलकिनी का खीर बनाना—सब कुछ उत्पादन है। वे उत्पादन-कार्य हैं। वे उत्पादन में हाथ बँटाते हैं, मदद करते हैं। सभी कार्य जो मांग को पूरा करें उत्पादन-कार्य हैं। उत्पादन (अर्थात् उत्पादन की क्रिया) सम्पूर्ण आर्थिक जीवन को ढँके हैं। मनुष्य कलाकार की नाई है जो प्रकृति-प्रदत्त पदार्थों से उत्पादन करता है। सौदागर और दुकानदार काल और स्थान संबंधी उपयोगिताएँ उत्पन्न करते हैं। वे चीजों को असमय में और अभावपूर्ण स्थान में पहुँचाते हैं। वे 'डील' करके पैसा अर्जित करते हैं। किसान 'ग्रो' करके उत्पादन करते हैं। उनकी क्रिया निर्माण—'मेक'—करती है। उत्पादन के सहारे साधनों के अभाव को दूर या कम किया जाता है और उपभोग किया जाता है। उत्पादन में वस्तुएँ तो आती ही हैं, वे सेवाएँ भी आती हैं जो विनिमयसाध्य हैं।

उपभोग

उपभोग का अर्थ है वस्तुओं और सेवाओं की उपयोगिता का उपभोग। उपभोग विनाश नहीं है। उपभोग से चीजें और सेवाएँ

खत्म हो जाती हैं जरूर लेकिन वे संतोष या उपयोगिता के रूप में हमारे द्वारा गृहीत हो जाती हैं। हम उपभोग सीमित साधनों का उपयोग करके करते हैं। यह ऋणात्मक उत्पादन है। उपभोग एक-बारगी भी हो सकता है और क्रमिक भी।

उत्पादन बनाम उपभोग

अर्थशास्त्र में दोनों का अध्ययन होता है। उपभोग इच्छाओं की पूर्ति के लिए होता है। इच्छाएँ उपभोग के मूल में हैं। उत्पादन से ही उपभोग संभव होता है। प्रयासों और कार्यों की प्रेरणा से उत्पादन होता है। मनुष्य केवल उपभोग के लिए ही नहीं जीता बल्कि वह उत्पादन के लिए भी बेचैन रहता है। वह अपनी परिस्थिति से असंतुष्ट रहता है। आवश्यकता आविष्कार की जननी होती है। असम्यक् अवस्था में उपभोग की प्रेरणा हो सब कुछ थी। सम्भावस्था में उत्पादन ही अग्रगण्य है। पहले इच्छा मालूम होने पर जंगली आदमी उत्पादन करता था। आज पहले किसी चीज का आविष्कार हो जाता है तब लोग उसका उपभोग करने लगते हैं।

विनिमय

हम बाजार में जाकर मुद्रा से कोई चीज दुकानदार से खरीदते हैं। दुकानदार हमें वह चीज देता है और मुद्रा बदले में लेता है। यही विनिमय है। यह मौद्रिक विनिमय है। मुद्रा दो पक्षों—व्यक्तियों—के बीच मध्यस्थ या दलाल का काम करती है। दो देशों के बीच भी विनिमय (द्वैदेशीय) हो सकता है। समाज में कई व्यक्तियों के बीच विनिमय होता है। कई देशों के बीच विनिमय (बहुदेशीय) होता है। पहले जब मुद्रा—विनिमय का आविष्कार नहीं हुआ था तब वस्तु-विनिमय था। लोग चीज के बदले चीज लेते-देते थे। इस तरह के आदान-प्रदान में कठिनाई होती थी। इसका हम आगे

उल्लेख करेंगे । कितने लोग दूसरों के लिए, दूसरों के अधीन काम करते हैं और बदले में वेतन या मजदूरी पाते हैं । यहाँ भी विनिमय ही होता है ।

वितरण

प्रकृति के द्वारा किसी देश को बहुत-से पदार्थ मिले होते हैं । उनके अतिरिक्त व्यक्तियों के पास जायदाद (जमीन और पूँजी) रहती है । श्रमिकों के पास अपना श्रम है जिसको वे दूसरों के हाथ बेचते हैं । कितने दूसरों से जमीन व पूँजी लेते हैं और मजदूरों से काम कराते हैं । अपने पास का पैसा लगाते हैं या नहीं भी लगाते हैं । फिर भी वे व्यवसायों का संगठन करते हैं । इस तरह प्रतिवर्ष उत्पादन होता है—कारखाने में, उद्योग-शाला में, देश में । उत्पादन चीजों और सेवाओं का होता है । इनके भंडार को उत्पन्न करने में श्रम, पूँजी, भूमि, और संगठन ने परिश्रम किया है । इसलिये इनकी उत्पादकता या योगदान के अनुसार पारिश्रमिक मिलना चाहिये और मिलता भी है । जो श्रम करता है उसको श्रमिक कहते हैं । उसको मजदूरी मिलती है । जो भूमि उत्पादन में लगाता है उसको भूपति कहते हैं । उसको लगान मिलता है । जो पूँजी उधार देता या लगाता है उसको पूँजीपति कहते हैं । उसको सूद मिलता है । जो उत्पादन का संगठन करता है उसको उद्योग-साहसी, संगठनकर्त्ता या प्रवर्तक कहते हैं और वह मुनाफा कमाता है ।

केवल लोग ही उत्पादन और उपभोग, विनिमय और वितरण नहीं करते । हर देश की सरकार भी ये कार्य करती है । वह भी अपनी प्रजा से प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष करों द्वारा राजस्व प्राप्त करती है और सार्वजनिक व्यय करती है । वह भी चीजों और सेवाओं का उत्पादन करती है, विनिमय करती है । वह उपभोग और वितरण को भी प्रभावित करती है । इसके बारे में हम आगे बतायेंगे ।

आर्थिक प्रणाली का अवलोकन

आर्थिक प्रणाली के ऊपर दृष्टिपात करने के दो तरीके हैं। पहला तरीका है कि हम इसको उपभोक्ताओं की इच्छाओं को पूरा करने के लिए उत्पादकों का एक संगठन माने। दूसरा तरीका है कि हम इसको पारस्परिक विनिमयों की एक प्रणाली समझें। जब हम यह मान बैठते हैं कि उत्पादक और उपभोक्ता अलग-अलग आदमी हैं तब हम पहला तरीका अपनाते हैं। जब हम मानते हैं कि उत्पादक और उपभोक्ता आम तौर से एक ही व्यक्ति होता है तब हम दूसरा तरीका अख्तियार कर सकते हैं। दोनों तरीकों की दृष्टि से आर्थिक प्रणाली का विश्लेषण अच्छा भी होता है। एक दूसरे के अभाव या त्रुटि को दूर करता है। ये 'चेक्स एन्ड बैलेन्सज'—रोक-थाम—का काम करते हैं।

हम जिस अर्थ-प्रणाली में रह रहे हैं वह पूँजीवादी है यद्यपि सोलहवीं आना पूँजीवाद किसी देश में न रहा क्योंकि सरकार कहीं भी समाज के आर्थिक जीवन से तटस्थ नहीं है। इसके दो मूलभूत स्तम्भ हैं—श्रम-विभाजन, जिसका दूसरा नाम विशिष्टीकरण या विभिन्नीकरण है और मूल्य की प्रणाली, जिसका दूसरा नाम बाजारगत अर्थ-प्रणाली है।

किसी देश की कार्यरत आबादी के लगभग ८० प्रतिशत लोग दूसरों के लिये काम करते हैं और बदले में २० प्रतिशत मालिकों से वेतन या मजदूरी पाते हैं। ८० प्रतिशत लोगों में १५ या २० प्रतिशत स्त्रियाँ कमाने वाली होती हैं। कुछ लोग एक मालिक के लिए, कुछ लोग कुछ मालिकों के लिए और कुछ लोग बहुत मालिकों के लिए काम करते हैं। वेतन कहीं खाना-कपड़ा, आदि के रूप में मिलता है, कहीं मुद्रा के रूप में, और कहीं अंशतः मुद्रा के रूप में और अंशतः खाना-कपड़ा के रूप में। कहीं रोज वेतन मिलता है। कहीं सप्ताह के

किसान से, कहीं/महीनारी और कहीं सालाना । लोग दूसरों के लिये इस लिए खुदते हैं कि या तो उन्हें इनकी निजी इच्छाओं को पूरा करा जाता है अथवा उन्हें किन्हीं दूसरों की इच्छाओं को पूरा कराना रहता है और वे मध्यस्थ का काम करते हैं । इस तरह किसी अर्थ-प्रणाली में तीन कौटियों के व्यक्ति हमारे सामने आते हैं— मजदूर (दैहिक या मानसिक श्रम करने वाले) जो उत्पादकों के आधीन उपभोक्ताओं की इच्छाओं को पूरा करने के लिए काम करते हैं । मजदूरों को उत्पादक कहने में कोई हर्ज नहीं । वास्तव में वे ही उत्पादन करते हैं, लेकिन वे उपभोग भी करते हैं । ऐसा नहीं होता कि जिन चीजों और सेवाओं को वे तैयार करते हों उनका वे उपभोग नहीं करते हों । इसी तरह उपभोक्ता भी उत्पादक और मजदूर हो सकते हैं । वे भी कच्चे मालों को उगाते, या उत्पादकों के आधीन थोड़े समय तक काम करते हैं । उदाहरण के लिए हम किसी देश के किसानों को ले सकते हैं । सौदागरों या व्यापारियों या दुकानदारों को हम उत्पादकों की श्रेणी में रखेंगे, क्योंकि वे उपभोक्ताओं और उत्पादकों को पुल की तरह मिलाते हैं । आज की दुनिया में जब ये दोनों वर्ग बिखरे हुए हैं तब वे ही बाजार या विनिमय की प्रणाली की धुरी का काम करते हैं । समाजवादी अर्थ-प्रणाली में सरकार या सरकारी दुकानें या अमला यह काम करेंगे क्योंकि बिना इसके पूर्ति उपभोक्ताओं के पास तक पहुँच ही नहीं सकती, डाक-तार से दैनिक आवश्यकता की चीजें नहीं भेजी जा सकती, क्योंकि इसमें समय और पैसा दोनों अनावश्यक मात्रा में खर्च होगा और कोई देश इसे बर्दाश्त नहीं कर सकता ।

उत्पादन उद्योगशाला या कारखाने में चलता है । एक उद्योग में कई फर्म होते हैं । फर्म आर्थिक शब्द है । यह संगठन की ओर संकेत करता है । एक फर्म में कई प्लांट हो सकते हैं । प्लांट टेक्निकल शब्द है और यह उत्पादन की ओर संकेत करता है । आधुनिक फर्मों में बहुधा एक से अधिक चीजों को तैयार किया जाता है । प्रधान चीज के साथ आनु-

प्रंगिक चीज या चीजें तैयार की जाती हैं। अतएव एक फर्म में कई प्लान्ट होते हैं। फर्मों के बीच भी श्रम-विभाजन चलता है। बहुतेरे फर्म तो किसी चीज का एक ही पार्ट तैयार करते और अन्तिम फर्म पिछले फर्मों से पार्टों को एकत्र करके एक चीज को तैयार करता है। कभी-कभी एक उद्योग में कई फर्मों का संगठन या समन्वय हो जाता है। संगठन, दो तरह का होता है—क्षैतिज और शीर्ष। क्षैतिज संगठन में एक ही चीज के तैयार करने वाले फर्मों का संगठन होता है। शीर्ष संगठन में एक ही चीज के पार्टों के तैयार करनेवाले फर्मों का संगठन होता है। पहले का उदाहरण कोयला-खनन उद्योग है। दूसरे का दृष्टान्त है जहाज बनाने वाला या मोटरगाड़ी बनाने वाला उद्योग।

शुरु-शुरु में कोई परिवार अपनी जरूरत की सारी चीजों को खुद उपजाता-बनाता था। बाद में परिवार-परिवार के बीच विनिमय होने लगा। हर गाँव आत्मपूर्ण बनने की कोशिश करने लगा। लेकिन ऐसा संभव नहीं था। आवागमन और यातायात के मागों की उन्नति होती गई। गाँव-गाँव के बीच आदान-प्रदान होने लगा। एक गाँव किसी चीज के उत्पादन में विशिष्टीकरण करता तो दूसरा दूसरी चीज का। आगे चलकर शहर बसे। शहर और गाँव के बीच विनिमय होने लगा। शहर से उत्पन्न चीजों के उपभोक्ता गाँव में हैं और गाँव में उत्पन्न चीजों के उपभोक्ता शहर में। मशीनों का ताँता बिछा हुआ है। दिन-ब-दिन नए-नए अनुसन्धान और आविष्कार होते जा रहे हैं। प्रांत-प्रांत के बीच ही विनिमय नहीं हो रहा है, देश-देश के बीच भी व्यापार चल रहा है। आयातों और निर्यातों का क्या पूछना? कहना नहीं होगा कि मुद्रा के आविष्कार से काफी सहूलियत भीतरी-बाहरी विनिमय में हुई है।

श्रम—विभाजन

अदम और इम के समय से ही श्रम-विभाजन होता आ रहा है। पुराने समाज में जो मोटे थे उनको मछली मारने का काम करना

होता था । जो दुबले थे उन्हें शिकार खेलने का काम करना पड़ता था और जो देखने में 'स्मार्ट' थे उन्हें दवा बनाने का । भारतवर्ष में भी वर्णाश्रम की प्रणाली थी । एक मामूली आदमी की इच्छाओं को पूरा करने के लिए आज बड़े-बड़े धनी और हुनरवाज लोग लगे हुए हैं । रात में हर आदमी मौज से सोता है । वह नहीं कोई सोचता कि कल सुबह हर आदमी अपना-अपना काम करना छोड़ दे तो यह अर्थ-प्रणाली, यह आर्थिक-जीवन कैसे चलेगा ? जब लड़ाई में हार होने लगती है, जब यातायात के साधनों में व्यवधान उत्पन्न होता है तब हमें मालूम होता है कि विनिमय की प्रणाली का क्या महत्व है ? अमेरिका में कोई एक बैंक फेल होता है और उसका प्रभाव बिहार के एक नागरिक पर पड़ता है । वास्तविक आर्थिक-जीवन श्रम-विभाजन या विशिष्टीकरण के साथ शुरू होता है और उसके उदय के साथ प्रबल होता जा रहा है । हर आदमी अपने काम में दिलचस्पी लेता है, संलग्न है । कोई हरफन मौला नहीं बनना चाहता । जो बनते हैं, वे पछताते हैं । युग विशेषज्ञों के लिए है, बहुज्ञों के लिए नहीं । आरंभिक काल में जो नारा था 'तुम मेरे लिए यह करो, मैं तुम्हारे लिए वह काम करूँगा' वह आज भी है ।

मनुष्य के अन्दर विनिमय करने की प्रवृत्ति है । वह चौकोर आदमी न बनकर विशेषज्ञ बनता है । प्रकृति का भी अंकुश है । आदमी औरत बन ही नहीं सकता । निरंकुश पार्लियामेन्ट या अधिनायक भी ऐसा नहीं कर सकता । जमीन के टुकड़ों में जैसे उर्वरता की विभिन्नता होती है वैसे ही आदमी-आदमी के नैसर्गिक गुणों में फर्क होता है और वह उनके उपयुक्त काम करता है । आज का आर्थिक-जीवन संश्लिष्ट है । उत्पादन के अन्य तीन साधनों भूमि, श्रम और पूँजी को संगठन एकत्र करके श्रम-विभाजन के रास्ते पर ले जाता है और अनेकानेक चीजें तैयार करता है । लोग भी मह-

सूस करते हैं कि अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ सकता । एक अणु का, या देह की एक सेल का क्या मूल्य है ? लेकिन कई अणु और सेल जब संगठित हो जाते हैं तब उनकी ताकत और आयु बढ़ जाती है । मनुष्यों के साथ भी यही बात लागू है ।

श्रम-विभाजन सीधा भी हो सकता है और पेचीदा भी । उसका प्रभाव मजदूरों, उपभोक्ताओं और समाज पर पड़ता है । प्रभाव प्रतिकूल और अनुकूल दोनों हो सकते हैं, लेकिन वे अनुकूल अधिक हैं । मजदूरों पर श्रम-विभाजन के अग्रलिखित अनुकूल प्रभाव पड़ते हैं— इससे निपुणता बढ़ती है । अभ्यास से सुगमता होती है । इससे आदमी की नैसर्गिक विशेषताओं का सदुपयोग होता है और उनकी संवृद्धि होती है । इससे गोल मुराकों में चौकोर खूटियों को ठूसने की जरूरत नहीं होती । इससे जिज आदमी को कुछ नहीं आता है जो वह भी उसे सीख सकता है । ज्ञान और निपुणता पैतृक बन जाती हैं । समय की बचत होती है । उत्पादन की गति बढ़ जाती है । न्यूनतम श्रम से अधिकतम लाभ उठाया जा सकता है । अनायास काम करने की आदत बढ़ती है । मसलों पर कम जोर पड़ता है । काफी अवकाश मिलता है । मजदूरों की मजदूरी बढ़ जाती है । अपंगों को भी काम मिल पाता है । मजदूर अनुसन्धान और आविष्कार भी कर लेते हैं । उत्तरदायित्व का भाव भी पनपता है । अन्योन्याश्रय भाव भी उदित होता है । लेकिन मजदूरों को कुछ नुकसान भी होता है । इससे एकरसता बढ़ती है । मानसिक श्रमिक को दैहिक दुर्बलता और दैहिक श्रमिक को मानसिक दुर्बलता होती है । गर्व और कलात्मकता की भावनाएँ जाती रहती हैं । उत्तरदायित्व का दायरा कम हो जाता है । टेक्निक के परिवर्तन से बेकारी बढ़ती है । मन्दी के समय बेकारी फैलने पर विशिष्टता प्राप्त मजदूर दूसरे उद्योग में काम नहीं कर सकते । मजदूरों की गत्यात्मकता कम हो जाती है । अमानवीयकरण जोर पकड़ता है ।

उपभोक्ता को श्रम-विभाजन से जो लाभ होते हैं वे ये हैं—उसे जल्दी और सुगमतापूर्वक चीजें मिलती हैं। उसे अच्छी चीजें मिलती हैं। चीजें सस्ती दरों पर भी मिलती हैं। उसको समय की भी बचत होती है। वह अपने काम में विशिष्ट बनने की धुन में रहता है। उसको इस बात का गर्व रहता है कि वह सार्वभौम है और उसकी इच्छाओं को पूरा करनेवाले हजारों हैं। लेकिन उसे कुछ हानियों का भी अनुभव करना पड़ता है। उसे 'भेराइटी' का मजा नहीं मिलता। उत्पादक अधिक दाम लेना चाहते हैं। उपभोक्ता कम दाम देना चाहते हैं। इससे दोनों में अनबन रहता है। दोनों के हित अलग-अलग हो जाते हैं। जब व्यावसायिक दुनिया में कोई संकट पैदा होता है तब उसे कोई चीज ठीक समय पर नहीं मिलती है। उससे सौदागर काफी फायदा उठाता है। एक का डेढ़ दाम लेता है।

समाज पर श्रम-विभाजन के जो हितकर प्रभाव पड़े हैं वे ये हैं:— इससे लोग अपने पेशाओं में दक्ष-चिन्त हो सके हैं। इससे पूँजी के विकास में मदद हुई है। बिना श्रम-विभाजन के बाजार या विनिमय की प्रणाली नहीं चल सकती। इससे मशीनों और औजारों की अनावश्यक आवृत्ति नहीं होती। उनकी खपत में मितव्ययिता होती है। इससे देश-देश के बीच विनिमय होता है। इससे समाज को बृहत पैमाने के उत्पादन के लाभ होते हैं। लेकिन कुछ नुकसान भी होते हैं। श्रम-विभाजन का विस्तार बाजार के विस्तार पर निर्भर करता है। इससे बाजारों की छीना-भपटी होने लगती है। युद्ध-काल में देश-देश के बीच विनिमय की गड़बड़ी होने से लोगों को कष्ट होता है। अधिक अन्योन्याश्रय भाव ठीक नहीं होता। परावलम्बन एक हद के बाद खराब है। कृषि में इसकी कम गुंजाइश है। चूँकि बिना यंत्रीकरण के विशिष्टीकरण पूर्ण नहीं हो सकता, इसलिए कभी-कभी यंत्रगत गड़बड़ी होने से बेकारी फैल जाती है।

फिर भी श्रम-विभाजन से अनेकानेक लाभ होते हैं और यह वर्तमान अर्थ-प्रणाली के लिये अपरिहार्य है। चाहे कोई भी व्यवस्था रहे उसमें इसका स्थान अवश्य रहेगा, भले ही अंशगत भिन्नता रहे।

मूल्य की प्रणाली—बाजार की प्रणाली

हमारा समाज मूल्य की प्रणाली द्वारा भी परिचालित हो रहा है। बाजार में क्रय-विक्रय होते हैं। हर आर्थिक कार्य के लिए मूल्य या मुद्रा का सहारा लेना पड़ता है। बाजार एक बैलट-बॉक्स की भांति, है। मुद्रा या क्रय-शक्ति वोट के सदृश है। जिसके पास जितनी क्रय-शक्ति है उसी अनुपात से वह अपनी मांग की पूर्ति करता है। मांग और पूर्ति की शक्तियों के घात-प्रतिघात से काम होता है। जिस चीज की मांग बढ़ती है, उसकी कीमत बढ़ जाती है। उसके उत्पादकों को अधिक मुनाफा होता है। वे अधिक पूर्ति करने लगते हैं। इससे मांग एवं पूर्ति समान हो जाती हैं। लेकिन कीमत अधिक देर तक खर्च से बढ़ी नहीं रह सकती। अधिक मुनाफा से आकर्षित होकर नए उत्पादक आर्येण और आपस की प्रतियोगिता से, पूर्ति के बढ़ने से, स्वतः कीमत कम हो जायगी। किसी वस्तु या सेवा की जो उत्पादन-लागत होती है, उसीके बराबर उसकी कीमत भी होगी। यही स्वाभाविक मूल्य-करण है। बाजार की अस्थायी शक्तियों के कारण इससे कुछ फर्क कुछ समय के लिए हो सकता है, लेकिन फिर वह पूर्ववत् हो ही जाता है। चाहे श्रम हो या पूँजी, चाहे भूमि हो या संगठन, सभी मूल्य की प्रणाली द्वारा परिचालित होते हैं और उनका मूल्य उसीके द्वारा निर्धारित होता है। यही कारण है कि अर्थशास्त्र को मूल्यों का विज्ञान भी कहा जाता है। उत्पादन, उपभोग, विनिमय और वितरण सभी मूल्य-प्रणाली के खेल-कौतुक हैं।

बाजार का अर्थशास्त्र में वह अर्थ नहीं लगाया जाता जो बोलचाल

में लगाया जाता है। अर्थशास्त्र में बाजार का अभिप्राय किसी चीज से होता है जिसके क्रय-विक्रय के लिए क्रेताओं और विक्रेताओं में स्पर्धा या प्रतियोगिता होती है। किसी चीज का बाजार अन्तर्राष्ट्रीय भी हो सकता है। किसी चीज का बाजार लघुकालीन या दीर्घकालीन हो सकता है। अच्छे और बड़े बाजार के लिए आवागमन एवं यातायात के साधनों का विकसित होना जरूरी है। आवागमन और यातायात की जितनी माध्यमिक उपक्रियाएँ हैं सभी को उन्नत होना चाहिये। विनिमय की प्रणाली का भी समुचित संगठन जरूरी है। मुद्रा और बैंक की संस्थाएँ इसमें आयेंगी। सरकारी कानून जो सट्टा-पट्टा, आपसी समझौता के लिए बनाये जाते हैं, वे भी जरूरी हैं। किसी वस्तु के दाम के अनुकूल बाजार का विस्तार होता है। अधिक मांग वाली चीजों का बाजार बड़ा होता है। बाजार का फैलाव किसी वस्तु की प्रकृति और स्वरूप, नमूनावाजी और वर्गीकरण की संभवनीयता, समाज की शान्ति और सुरक्षा, सरकार की आयात-निर्यात, जुगो-कर नीति, बेतार के तार और रेडियो, उत्पादन के ढंगों, मध्यस्थों, सौदागरों की कुशलता और नीयत तथा मुद्रा के पार्ट के ऊपर अवलम्बित रहता है और इनके अनुसार ही वह परिचालित होता है। पूर्ण बाजार में क्रेताओं और विक्रेताओं की संख्या अधिक होती है, उनके बीच प्रतियोगिता रहती है, आवागमन और यातायात की रुकावटों के न होने से वे एक-दूसरे को जानते रहते हैं, उनमें पूरी गतिशीलता रहती है। वे मांग-पूर्ति और दाम को अकेले प्रभावित नहीं कर सकते, एक ही दाम पर अनुरूप वस्तु समूचे बाजार में मिलती है। चोर-बाजार अपूर्ण बाजार का एक भेद है जिसमें ये शर्तें पूरी नहीं होतीं।

मुद्रा

विनिमय की प्रणाली और श्रम-विभाजन के निमित्त मुद्रा की उपस्थिति बहुत ही आवश्यक है। मुद्रा उसी चीज को कह सकते हैं जो

सफलतापूर्वक विनिमय के माध्यम का काम करे। लेकिन वह चीज जो विनिमय के माध्यम के साथ, मूल्यकरण के मापक, स्थिति प्रदायों के प्रमाण और मूल्य के अवधारक का भी काम करती है, वह सर्वोत्तम मुद्रा होगी। मुद्रा की सामान्य स्वीकृति होनी चाहिये। मुद्रा को कोई मुद्रा के लिए नहीं चाहता, क्योंकि उसका अपना क्या मूल्य है? सोना-चाँदी के सिक्कों का तो कुछ मूल्य था भी, परन्तु कागज के नोट का क्या मूल्य? उसको आदमी न खा सकता है, न पहन सकता है। लेकिन मुद्रा क्रय-शक्ति है और इसलिये उसके बदले में हम अपने मन लायक चीजों और सेवाओं को खरीद सकते हैं।

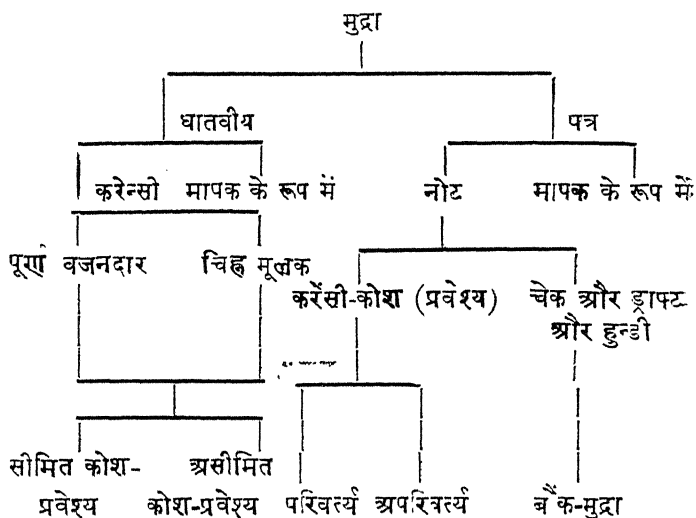
मुद्रा का अनुसन्धान अर्थशास्त्र का वह अनुसन्धान है जिस पर मानव-मानस को नाज है और जिस पर मानव-जीवन का प्रत्येक सूत्र आज टिका हुआ है। मुद्रा के अनुसन्धान (या आविष्कार) के पहले वस्तु-विनिमय प्रणाली थी। उसमें वस्तु के बदले वस्तु खरीदी-बेची जाती थी। लेकिन जैसे-जैसे आदमी की आवश्यकताएँ बढ़ती गईं और जीवन जटिलतर होता गया, वेस-वैसे इसकी त्रुटियाँ महसूस होने लगीं। इसमें इच्छाओं के संयोग का, विभाजनशीलता का और मूल्य-करण के मापक का अभाव है। चीजों को संग्रह करके अधिक काल तक रखा भी नहीं जा सकता। वस्तु-विनिमय प्रणाली में जो दल अधिक सबल होता है अर्थात् जिसकी अपनी माँग कम लोचहीन और अपनी पूर्ति अधिक लोचवती होती है, वह दूसरे दल को जिसकी माँग अधिक लोचहीन और जिसकी पूर्ति कम लोचवती होती है उससे नाजायज फायदा उठा सकता है। फिर, विनिमय के अनुपात अनिश्चित भी रहते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में जब कुल आयात और कुल निर्यात बराबर नहीं होते तब भिन्नता को दूर करने के लिए बातचीत मुद्रा की अनिवार्यता होती है।

मुद्रा अपने विनिमय के माध्यम वाले कार्य से पहली कठिनाई को

दूर कर देती है। हर आदमी सम-सीमान्त उपयोगिता नियम को कार्यान्वित कर पाता है। मुद्रा जादू-सी चीज है भी। यह मूल्यों के उभयनिष्ठ मापक का काम करती है जिससे विनिमय के कार्य में मदद मिलती है, उसकी गति बढ़ती है। विनिमय के अनुपात सहज बन जाते हैं। मुद्रा स्थगित प्रदायो अर्थात् कर्ज के लेन-देन में भी सहायता देती है। वह इनकी अन्तर्हित जोखिमों को कम करती है। मुद्रा पंख-सम्पन्न पत्नी की तरह काम करती है। जब वह बैठी रहती है तब वह मूल्य या धन के संग्रह में मदद करती है। लेकिन इससे आदमी को कोई लाभ नहीं होता। आदमी किसी संस्था—कम्पनी या बैंक—में अपनी बची मुद्रा को लगाकर खूब कमा सकता है, लेकिन उसको घर में गाड़कर या बन्दकर रखने से उसमें कोई वृद्धि नहीं होने पाती। मुद्रा की एक इकाई कई इकाइयों के मूल्य के बराबर काम कर सकती है। मान लीजिए आपके पास एक रुपया है। आप उससे मछुड़ी खरीदते हैं। मछुआ उससे बनिया की दुकान से चावल खरीदता है। बनिया उससे कपड़ा खरीदता है। कपड़ा का व्यापारी उससे सिगरेट खरीद सकता है। इस तरह वह रुपया विनिमय कराता जायगा जब तक कि उसे कोई बन्द करके न रख दे या वह केन्द्रीय बैंक में घिसने के कारण वापस न चला जाय !

किसी उत्तम मुद्रा में निम्नलिखित लक्षण पाए जाते हैं—सामान्य स्वीकृति, यातायात की सुविधा, टिकाऊपन, लयात्मकता और स्वजातीयता और अनुरूपता, विभाजनशीलता और मिलावटता, पहचान में आसानी, मूल्य की सापेक्षिक स्थिरता, आदि। मुद्रा के

मोटा-मोटी दो वर्ग होते हैं—धातवीय मुद्रा और कागजी मुद्रा । लेकिन उसको इस तरह भी बाँट सकते हैं—



मुद्रा के कार्य तो उसके लाभ हैं ही, और भी कुछ लाभ अलग से बताए जाते हैं—यह सुविधाजनक, मितव्ययिताजनक और प्रसारणजनक है। इससे रूपान्तरण और हस्तान्तरण अच्छी तरह होता है। धन और आय के विभाजन में, उत्पादन की क्रिया को सफलतापूर्वक चलाने में इससे अद्भुत मदद मिलती है। कर्ज के लेन-देन का यह बड़ा आधार है। यह पूँजी को गतिशील बनाती है। सम-सीमान्त उपयोगिता को उपलब्ध करने में इससे आसानी होती है। लेकिन मुद्रा की अतिक्रान्तियों और अतियों के कारण, उसके दास बन जाने के कारण, समाज को कुछ हानि भी हुई है और होती रहती है। मुद्रा एक रेलवे टिकट या राजमार्ग की तरह

है। उसका मूल्य निरपेक्ष रूप में स्थिर नहीं रहता। लेन-देन के ऊपर एक मौद्रिक पर्दा पड़ा हुआ है। मुद्रा की संस्था समाज की आर्थिक विषमता की एक बड़ी वजह है। नैतिक अधःपतन भी मुद्रा के चलते होते हैं। फिर भी मुद्रा के कार्य और लाभ इतने अधिक हैं कि उसकी त्रुटियाँ छिप जाती हैं। चाहे कोई भी आज का समाज हो वहाँ मुद्रा का एकलुत्र राज्य है, भले ही थोड़ा-बहुत वस्तु-विनिमय भी चलता हो।

मुद्रा का क्रमिक विकास बड़ा ही मोहक है। उसको हम एक चार्ट के रूप में अधिक खूबी के साथ बतला सकते हैं। इस चार्ट को देखने से मुद्रा का सारा इतिहास आज तक स्पष्ट हो जाता है। आज पत्र-मुद्रा का युग है। इसलिए पत्र-मुद्रा का उद्गम और विकास दिखलाया गया है। ऐत तो इसमें मुद्रा की अन्य अवस्थाओं से सम्बन्धित मुद्रा के और भेदों का भी वर्णन आ गया है। देखिए चार्ट नम्बर (१) पृष्ठ ४३-४४।

उपसंहार

विनिमय का श्री गणेश वस्तु-विनिमय (बार्टर) से होता है। अगर हम आज के जटिल अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय के ऊपरी छिलके को अलग कर डालें तब भी हम पायेंगे कि राष्ट्र-राष्ट्र के बीच जो व्यापार चलता है वह वस्तु-विनिमय ही तो है। हमें उन दो बनमानुषों (हमारे पूर्व पुरुष !) के प्रति कृतज्ञ होना चाहिये जिन्होंने आपस में अपने-अपने वनफलों का आदान-प्रदान करने का निश्चय किया था। लेकिन वस्तु-विनिमय में द्वैत संयोग के होने के बदले संयोग का अभाव था। वस्तु-विनिमय के युग के बाद वस्तु-मुद्रा के युग का पदार्पण हुआ। अनेकानेक वस्तुओं ने विनिमय के माध्यम का काम किया—पशु, ('कैटल'—जिससे पिक्यूनियरी, कैपीटल और चैटेल, आदि लैटिन शब्दों का उद्गम हुआ है) कौड़ी, शराब, दास, स्त्रियाँ,

अँगूठियाँ (तांत्रिक ! वशीकरण !!) । इसमें से प्रत्येक वस्तु के गुणा-गुण थे । पशु अपनी संख्या को बढ़ाने वाली मुद्रा था (अतः अरस्तु का यह कहना कि “मुद्रा वंजर” है, मिथ्या है) तो उसको छोटे-छोटे भागों में विभक्त करना असंभव था । शराब पड़े-पड़े अपने गुण को बढ़ावे भी तां ब्रियों को यों ही घर में रखने से वे विकसित नहीं हो जातीं ! चाँदी में चमक है, लेकिन खुली हवा में रहते-रहते वह खराब हो जाता है । सोना की चमक न्यून नहीं होती, लेकिन जब तक उसमें मिलावट (एवालय) नहीं दें तब तक वह बहुत ही मुलायम होता है । वस्तु-मुद्रा के युग की उत्तराधिकारी पत्र-मुद्रा इसको सिद्ध करती है कि मुद्रा की आन्तरिक उपयोगिता सबसे कम महत्वपूर्ण चीज हैं । सच पूछिए तो मुद्रा को कोई मुद्रा के लिए ही नहीं चाहता बल्कि वह उसे अन्य चीजों को खरीदने के लिए चाहता है । हम मुद्रा का प्रयोग करते हैं, उससे अपना पिंड छुड़ाकर ! भयंकर मुद्रा-स्फीति के जमाने में लोग जल्दी-जल्दी अपनी मुद्रा के बदले उपभोग्य वस्तुओं और सेवाओं को खरीदने में व्यस्त दीख पड़ते हैं ! मुद्रा को बैंक-जैसी संस्थाओं में संग्रह करने पर वह “मूल्य के धारक-स्टोर” का काम करती है । जब उससे लेन-देन होता है तब वह “खाता की इकाई” का काम देती है । व्यापारिक मन्दी के समय लोग अपनी मुद्रा को ‘तरल’ (करेन्सी के रूप में) अवस्था में रखना चाहते हैं और इसलिए वे बैंकों से अपनी संग्रहीत मुद्रा को निकाल लेते हैं । जब हम अपने पास भी मुद्रा को रखते हैं तब हम यही जानकार कि उसको पीछे हम खर्च कर सकते हैं । एक वाक्य में हम कह सकते हैं कि मुद्रा एक कृत्रिम, सामाजिक परम्परा (कनवेन्शन) है । यह कहना विरोधभास तो होगा लेकिन यह सत्य है कि मुद्रा स्वीकृत इसलिए होती है कि वह स्वीकृत होती है ! अर्थशास्त्र में मुद्रा-गत दाम सभी मूल्यों को अनुरूप बनाते हैं । कलात्मक दृष्टि से रोटी रोटी है, फूल फूल है और वे पूरव-पच्छिम की तरह कभी एक नहीं हो सकते, लेकिन आर्थिक दृष्टि से मुद्रा उनको समान स्तर पर रखकर,

उन्हें तुलनीय बना देती है। पत्र-मुद्रा में सुविधाजनकता, वहनीयता, अभाव है, (लोग स्वेच्छा से उसे छाप नहीं सकते !) उसपर केवल “शून्य” छापकर हम उसका मूल्य बढ़ाते जा सकते हैं और केवल दशमलव छापकर उसको घटाते जा सकते हैं। इंग्लैंड, अमेरिका, आदि उन्नत देशों में तो किसी बड़े अफसर को जलपान, सवारी-खर्च, सिगरेट, पान आदि पर अपने वेतन का कुछ भाग स्वयं खर्च करने के बाद शेष वेतन का कोई पता ही नहीं रहता। वह उसको छूता तक नहीं ! उसकी प्रियतमा (स्वीट हार्ट !) चेक के जरिये सारा काम करती हैं, उसका स्वामी वेतन से उसको जितना आय-कर, जितना सामाजिक-सुरक्षा में शुल्क देना है उसकी-उसकी रकमों को पहले ही वेतन से कम कर लेता है। चेक पत्र-मुद्रा का एक सबसे अधिक लोकप्रिय रूप है। अन्त में एक बात कह देना है। कभी-कभी ऐसा हो सकता है और होता भी है कि कोई मुद्रा ‘विनिमय का माध्यम’ न रहने पर भी “खाता की इकाई” हो। उदाहरणार्थ—गिन्नी को (२१ शिल्लिंग के बराबर) लें। इंग्लैंड में अभी भी कुछ रोजगारी गिन्नी के रूप में बही-खाता रखते हैं, यद्यपि हम जानते हैं कि गिन्नी प्रचलन में नहीं (कभी-कभी किसी युवक या युवती की शादी ठीक करते समय अंजलि में देने के काम में उसे लोग लाते हैं, या गहना पिढाने के लिये !)।

आर्थिक प्रणाली को पारस्परिक विनिमयों की प्रणाली के रूप में देखने की कठिनाइयाँ—हम ऊपर कह आये हैं कि अर्थ-प्रणाली के ऊपर हम पारस्परिक विनिमयों की प्रणाली की दृष्टि से भी विचार कर सकते हैं। लेकिन कुछ लोग कहते हैं कि ऐसा मानने में तीन कारणों से कठिनाइयाँ होती हैं—(१) मुद्रा के प्रश्न के कारण, (२) व्यक्तिगत जायदाद के स्वामित्व के कारण और (३) राष्ट्रीय और स्थानीय सरकारों के आर्थिक कार्यों के कारण। हम तुरन्त देखेंगे कि पहली दो कठिनाइयाँ गलत अपवाद हैं। केवल तीसरी कठिनाई ही सही

अपवाद पूँजीवादी प्रणाली में हो सकती है। मुद्रा के उदय और विकास, उसके कार्यों और प्रभावों के ऊपर हम अभी विचार कर चुके हैं। हम पाते हैं कि लोगों की मिहनत के बदले में मुद्रा दी जाती है जिससे वे अपनी आवश्यकताओं का पूर्ति करते हैं। मुद्रा से पारस्परिक आदान-प्रदान खूब अच्छी तरह चलते हैं। इससे क्रय-विक्रय, लेन-देन खूब चलता है। श्रम-विभाजन में भी तेजी आती है। मुद्रा अपना काम दो दर्जों में करती है—आदमी मिहनत करता है और बदले में मुद्रा पाता है। यह पहला दर्जा है। फिर आदमी मुद्रा से चीजें मोल लेता है। यह दूसरा दर्जा है। कभी-कभी ऐसा होता है कि चीजों को विक्रेता मुद्रा के बदले बेच तो डालते हैं, मगर वे मुद्रा का उपयोग तुरन्त नहीं करते, देर लगा देते हैं। जब समाज में विक्रेता या उत्पादक ऐसा करने लगते हैं तब विनिमयों का पहिया रुक जाता है। उत्पादन की क्रिया-रूपी मशीन के पहियों के लिये मुद्रा तेल का काम करती है, लेकिन कभी-कभी मुद्रा की अधिकता या न्यूनता के फलस्वरूप समाज में मौद्रिक रोग, जैसे व्यापारिक धूम और मन्दी, फैल जाते हैं जिससे अधिक उत्पादन और अप-उपभोग होता है, बेकारी फैलती है और रोजी का परिमाण घटता है। लोगों की जेब में मुद्रा की (या क्रय-शक्ति) कमी रहती है, लेकिन लोग उसके बदले में कोई चीज चाहते हैं, तब बाजार में वह नहीं मिलती अथवा बाजार में चीजें अफरात रहती हैं, लेकिन लोगों के पास उनको खरीदने के लिये यथेष्ट मुद्रा नहीं रहती। यही एक विडम्बना या विरोधाभास है। लेकिन इसके होते हुए भी समाज के विनिमय का कार्य चलता ही जाता है। यह सही है कि उसकी मात्रा में जरूरत उथल-पुथल होती रहती है। अतएव यह कोई ऐसी कठिनाई नहीं कि हम जान बैठें कि अर्थ-प्रणाली को पारस्परिक विनिमयों की प्रणाली नहीं माना जा सकता। पूँजीवाद वह अर्थ-प्रणाली है जिसमें उत्पादन के साधनों पर वैयक्तिक स्वामित्व रहता है। लोगों के पास पूँजी या जायदाद रहती है। वह मीठी रोटी

‘केक’ की तरह है । उससे आमदनी होती है । ‘केक’ को बचाए रखकर भी लोग उसको खाते जाते हैं ! या कुछ लोग पहले काफी आय जमा कर लेते हैं और उसे व्यावसाय या बैंक में जमाकर उसकी आय पर जीवन-निर्वाह करते हैं । समाजवाद में उत्पादन के साधनों पर सरकार का अधिकार रहता है । सम्मिलित अर्थ-प्रणाली में सरकार और व्यक्तियों दोनों का आंशिक अधिकार उत्पादन के साधनों पर रहता है । जिनके पास जमीन-जायदाद है, वे उसको दूसरों को, जो चीजों और सेवाओं का उत्पादन करते हैं, लगान-सूद पर दे डालते हैं और स्वयं उत्पादन में कोई प्रत्यक्ष भाग नहीं लेते । इससे यह होता है कि उन्हें जो आमदनी इस तरह होती है उससे वे अपनी आवश्यकताओं की चीजों और सेवाओं को खरीदते हैं । इस तरह मानों वे इनके बदले में अपनी जमीन-जायदाद को उधार देते हैं । वे अप्रत्यक्ष रूप से विनिमयों की प्रणाली में प्रवेश करते हैं । इस दृष्टि से वे भी उत्पादक बन जाते हैं । अतएव निजी जायदाद का अस्तित्व अर्थ-प्रणाली को पारस्परिक विनिमयों की प्रणाली के रूप में देखने में कोई वास्तविक बाधा नहीं डालता । अब स्थानीय और राष्ट्रीय सरकारों के आर्थिक कार्यों पर विचार कीजिये । हम आगे इसपर सविस्तार प्रकाश डालेंगे । यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि इनके कारण सामूहिक आवश्यकताएँ (सैनिकों, पुलिस, सड़कों, युद्ध-सामग्रियों के लिये—न्याय, शान्ति और रक्षा की सामाजिक आवश्यकताएँ) की पूर्ति होती है । सरकार इन कार्यों को करनेवालों को पारिश्रमिक देती है । एक तरह से वह लोगों के प्रतिनिधि या मध्यस्थ या सौदागर का काम करके उनके बदले उनके लिये इनको सम्पन्न करती है । इसलिये वह उनसे कर वसूलती है, राजस्व प्राप्त करती है और उससे इनका खर्च चलाती है । चूँकि कर अनिवार्य है इसलिये सरकार जिनसे कर लेती है उनको इसके बदले में कर के अनुपात में इन कार्यों की सुविधा नहीं देती । सरकार को विदेशियों को भेंटें देनी होती है, बूढ़ों को पेंशन

और गरीबों को आर्थिक मदद देना रहता है। यह सब राजस्व से होता है। सरकार इनसे बदले में कुछ भी नहीं लेती। ये उससे जो मुद्रा पाते हैं उसको अपनी इच्छा-पूर्ति में खर्च करते हैं। अतएव यहाँ सचमुच में प्रत्यक्ष विनिमय का कोई प्रश्न नहीं उठता। पूँजीवाद का यही स्वरूप है। समाजवाद में सरकार केवल सामूहिक इच्छाओं पर ही अंकुश नहीं रखती वरन् वह वैयक्तिक इच्छाओं पर भी अंकुश रखती है और सच्ची अर्थ-प्रणाली को नियंत्रित करती है। वह एकान्त उत्पादक, वितरक और विनिमयक बन जाती है। उसकी आम जनता उपभोक्ता है। चाहे समाजवाद अर्थ-प्रणाली हो या निजी जायदाद पर आधारित पूँजीवादो अर्थ-प्रणाली, हम सामूहिक इच्छाओं को सम्मिलित कर उसको उपभोक्ताओं की इच्छाओं को संतुष्ट करने के लिये उत्पादकों का सहयोग या संगठन मान सकते हैं या उससे कर की बात को पृथक् कर उसको पारस्परिक विनिमयों की प्रणाली के रूप में देख सकते हैं।

वस्तुएँ

अर्थशास्त्र में वस्तुओं को आर्थिक और प्राकृतिक या स्वतंत्र दो कोटियों में बाँटा जाता है। आर्थिक वस्तु वह भौतिक या अभौतिक, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष चीज है जो उपयोगी, अभावपूर्ण, विनिमय मूल्य-प्राप्त करने वाली है। इनको हम गाड़ी पर (काट) लाद सकते हैं। उदाहरण—पुस्तक, मुद्रणाधिकार, पेटेन्टाधिकार, कीर्ति, गुडविल। स्वतंत्र वस्तु वह है जिनका विनिमय मूल्य नहीं। उदाहरण—हवा, पानी। सम्यता और आवादी के विकास के साथ कुछ स्वतंत्र वस्तुएँ आर्थिक और समाजवाद की स्थापना के कारण कुछ आर्थिक वस्तुएँ भी स्वतंत्र बनती जा रही हैं। वस्तुओं को एक तरह से और दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—उपभोक्ताओं की वस्तुएँ और उत्पादकों की वस्तुएँ। पहले भाग में वे वस्तुएँ आती हैं जिनका सीधा उपभोग होता है और दूसरे भाग में वे वस्तुएँ आती हैं जिनसे उपभोक्ताओं की

वस्तुओं को तैयार करने में मदद मिलती हैं। कोयला और आटा दोनों भागों में उपयोगानुसार रखे जा सकते हैं। दोनों भागों को दो उपभागों में बाँटा जाता है—एक-प्रयोग और टिकाऊ-प्रयोग। टिकाऊ-प्रयोग वस्तुएँ अनष्टप्राय वस्तुएँ भी कही जाती हैं। लेकिन प्रत्येक एक-प्रयोग वस्तु नष्टप्राय वस्तु नहीं हो सकती। कोयला अनष्टप्राय वस्तु है, लेकिन वह एक-प्रयोग ही। टीनों में बन्द चीजें टिकाऊ और अनष्टप्राय (सापक्षेतया, समय की दृष्टि से) तो हैं लेकिन वे एक-प्रयोग ही हैं। एक-प्रयोग वस्तु वह है जो एक बार में उपभुक्त हो जाय। टिकाऊ-प्रयोग वस्तु का उपभोग धीरे-धीरे होता है और वह अधिक काल तक चलती है। संप्रदर्शीलता-स्टोरेबिलिटी—एक बड़ी विशेषता है। टिकाऊ-प्रयोग वस्तुओं का उत्पादन अक्रमवद्ध और अस्थिर होता है। इससे व्यापारिक चक्र उत्पन्न होते हैं। उनकी माँग अनावर्त्तक और अधिक लोचपूर्ण होती है। उपभोक्ताओं का जीवन-स्तर टिकाऊ-प्रयोग उपभोग-वस्तुओं के उपभोग की मात्रा पर निर्भर करता है। तम्बाकू या दवा एक-प्रयोग और हज साहब का दतुवन व पेन्सिल टिकाऊ-प्रयोग उपभोक्ता-वस्तुओं के, तथा तेल व आटा एक-प्रयोग और ट्रैक्टर व औजार टिकाऊ-प्रयोग उत्पादक-वस्तुओं के उदाहरण हैं। उपभोग में कितना समय लगता है ? एक-प्रयोग उपभोक्ता-वस्तुओं का उपभोग तो एकबारगी होता है लेकिन टिकाऊ-प्रयोग उपभोक्ता वस्तुओं का उपभोग क्रमिक और अधिक काल वाला होता है। उपभोक्ताओं और उत्पादकों की वस्तुओं को दो अन्य भागों में भी रख सकते हैं—(१) कोई वस्तु विशिष्ट (जैसे जूता) और कोई गैर-विशिष्ट या अविशिष्ट (जैसे, चमड़ा जिससे मनी-बैग, वेल्ट, ह्रीप बन सकता है) और (२) कुछ चीजें परस्पर सम्पूरक (रैकेट सेट; बॉल) और कुछ प्रतियोगी या प्रतिस्थाप्य (चाय और काफी) होती है। उत्पादन में कितना समय लगता है ? उत्पादन की क्रिया अनादि है। रोज कोई चीज तैयार होती है और हर रोज उसका उत्पादन चलता रहता

है। उत्पादन का सिलसिला कल-कलवाहिनी सरिता की तरह है जिसमें परिवर्तन स्वाभाविक हैं। एक पावरोटी के तैयार करने में कई वर्ष लग सकते हैं—गेहूँ की खेती और खेती करने के औजार से लेकर, जहाज पर यातायात होने तक, आटा-मिल की चक्की में पिसे जाने तक, होटल से एक पावरोटी लाकर टेबुल पर उसको खाने तक कितनी ही प्रक्रियाएँ सन्निहित होती हैं—दोनों तरह की उत्पादक-वस्तुएँ एक-प्रयोग तथा टिकाऊ-प्रयोग—उनमें योगदान करती हैं। लेकिन एक ही पावरोटी नहीं बनती। लाखों रोज-व-रोज बनती जा रही हैं। तैयार और कच्चे मालों की यह आकर्षक क्रीड़ा है। सच पूछिये तो उपभोक्ता-वस्तुएँ साध्य हैं, उत्पादन की क्रिया की समाप्ति हैं जहाँ कि उत्पादक-वस्तुएँ उनतक पहुँचने के पथ की विभिन्न अवस्थाएँ हैं। उपभोक्ता की वस्तुओं को “प्रथम कोटि की वस्तुएँ” इसलिए कहते हैं कि उनका प्रत्यक्ष उपभोग होता है, उत्पादक की वस्तुओं को “उच्चतर कोटि की वस्तुएँ” इसलिए कहते हैं कि उनसे उपभोक्ता की वस्तुएँ तैयार होती हैं। रियासतें अनश्वर वस्तुएँ कही जाती हैं, क्योंकि उनका स्वत्व भले ही बदल जाय लेकिन वे आवाद रहती हैं।

भौतिक और अभौतिक सेवाएँ—उत्पादन और अनुत्पादक श्रम—

वस्तुएँ गाड़ी में बोभी-लादी जा सकती हैं, लेकिन सेवाएँ नहीं। लेकिन वस्तुओं की सेवाओं को ही हम चाहते हैं और उपभोग करते हैं। इससे हमें संतोष या उपयोगिता मिलती है। भौतिक सेवाएँ अथवा उत्पादक श्रम वह है जिसमें दोनों प्रकार के मूल्य—प्रयोग-गत (जिसे उपयोगिता या इच्छा-संतुष्ट करने की शक्ति कहते हैं) और विनिमय-गत (जिसे क्रयशक्ति या यथार्थ मूल्य या दाम, जो मुद्रा में व्यक्त मूल्य है, कहते हैं)—हों, जिसका मुद्रा-गत विनिमय हो अर्थात् जो “पेड फॉर” हो। यहाँ “निर्माण करना” ही मापदंड है। इन

सेवाओं में प्राथमिक आवश्यकताओं को पूरा करने की शक्ति होती है और इनसे विक्रय-योग्य पदार्थ तैयार होते हैं। अभौतिक सेवाओं में वे कार्य आते हैं जो विक्रय-योग्य वस्तुओं को नहीं तैयार करते, जो उसी क्षण, जिसमें वे किये जाते हैं, खत्म हो जाते हैं, जिनका होना और आनन्द देना साथ ही साथ होता है, जो एक शृंखला-जैसे हैं। इनका मुद्रा-गत विनिमय नहीं होता। ऐसी सेवाओं के तीन रूप हैं—(१) परिवार के अन्दर किया गृह-कार्य—गृह-पत्नी का कार्य, अभिभावकों का अपने शिशुओं का लालन-पालन-कार्य (२) खेत-खलिहान में अपने परिवार के लिए उपभोग्य वस्तुओं का प्रत्यक्ष उत्पादन-कार्य (३) सेवा-भाव से किया अवैतनिक कार्य। ये “अनपेड फॉर” हैं। किसी किसी देश में दूसरी कोटि की सेवाओं की (जैसे, भारत में) राष्ट्रीय आय या उत्पादन में गणना होती है, नहीं तो इन कोटियों की गणना राष्ट्रीय आय में नहीं होती। यह इसलिये कि इनका मौद्रिक विनिमय नहीं होता। ऐसा ठीक नहीं जान पड़ता, क्योंकि इनके बिना देश को जो सुख प्राप्त होता है, वह जाता रहेगा। लेकिन सोचने की बात यह है कि यदि इनके बदले लोग लेन-देन करने लगें, मूल्य लेने-देने लगें तो भले ही मौद्रिक राष्ट्रीय आय बढ़ जाय मगर उस तुलना में सुख का परिमाण नहीं बढ़ जायगा। इसके विपरीत स्नेह और प्रेम, त्याग और सेवा, आत्म-निर्भरता और आत्म-सम्मान की जो मूल्यवान भावनाएँ हैं, उनको बड़ा आघात पहुँचेगा और इससे संभव है कि सुख की मात्रा का लोग तब कम अनुभव करने लगें! पति-पत्नी की सेवा का मूल्य दे, शिशु अभिभावकों की सेवा का पारिश्रमिक दे तब तो परिवार की जड़ ही उखड़ जाय! सारा मजा ही किरकिरा हो जाय!! अनुत्पादक कार्य इन सेवाओं को कहना ठीक नहीं है। लेकिन फिर भी यह मतभेद का विषय है। यथार्थतः अनुत्पादक कार्य वह है जो सामाजिक उत्पादन में कुछ जोड़े नहीं, बल्कि उलटे उसमें कुछ घटा ले। जैसे—चोर-डाकुओं का काम, आदि। उत्पादक श्रम

लोकहितार्थक होता है, अनुत्पादक श्रम लोक-अहितार्थक होता है। उत्पादक श्रम वह सब श्रम है जिसके बदले में भले ही कुछ मुद्रा न मिलती हो लेकिन जिसके बदले में मुद्रा दी जा सकती है अर्थात् जिसका मूल्यांकन हम मुद्रा के रूप में कर सकते हैं।

उपयोगिता

उपयोगिता किसी चीज या सेवा की वह आन्तरिक विशेषता है जो किसी मानवीय इच्छा को संतुष्ट कर सके। उपयोगिता को नीति-शास्त्र की दृष्टि से नहीं देखते। दूध में भी उपयोगिता है और शराब में भी। उपयोगिता वैयक्तिक अनुभव की चीज है। वह संतोष या इच्छितता का पर्याय है। वह किसी चीज की अर्थवत्ता—सिगनिफिकेन्स—है। चूँकि हम किसी चीज के बारे में ऐसा अनुभव करते हैं इसलिये कोई चीज हमारे लिये उपयोगी बन जाती है। हर चीज की अपनी उपयोगिता होती है और लोग एक ही चीज से विभिन्न उपयोगिता प्राप्त करते हैं। उपयोगिता को हम अप्रत्यक्ष रूप से इच्छा की तीव्रता के जरिये जो मुद्रा के रूप में, मूल्य के रूप में प्रकट होती है, माप सकते हैं।

क्रमागत सीमान्त उपयोगिता हास नियम

किसी चीज की उत्तरोत्तर इकाइयों से, जो उपभोग या क्रय की जाती हैं, जो उपयोगिता मिलती है वह घटती जाती है। कुल इकाइयों को कुल उपयोगिता एक बिन्दु तक बढ़ती जाती है, लेकिन जब सीमान्त उपयोगिता शून्यात्मक हो जाती है तब वह घटने लगती है। सीमान्त उपयोगिता सीमान्त इकाई की उपयोगिता कही जाती है। सीमान्त इकाई कुल इकाइयों में से एक कम या अधिक इकाई को कहते हैं। सीमान्त के पहले की इकाइयों के लिये उतना ही मूल्य दिया जाता है जितना सीमान्त इकाई के लिए। सीमान्त इकाई ही किसी वस्तु के मूल्य की मापक होती है। चूँकि कुल उपयोगिता सीमान्त उपयोगिता और

इकाइयों की संख्या के गुणफल से अधिक होती है, इसलिये किसी क्रेता या उपभोक्ता को एक मनोवैज्ञानिक उपयोगिता या बचत होती है जिसे “उपभोक्ता की बचत” कहते हैं। इसके बारे में आगे लिखा जायगा। जैसे-जैसे किसी व्यक्ति के पास की किसी चीज का स्टॉक बढ़ता जाता है वैसे-वैसे उत्तरोत्तर वृद्धियों की उपयोगिता घटती जाती है। इसलिए आदमी किसी चीज को उसी बिन्दु तक खरीदता है जिस पर खरीदी इकाई की उपयोगिता और उसके बदले में दी गई उपयोगिता अर्थात् क्रय शक्ति या मुद्रा दोनों समान होती हैं। उपयोगिता ह्रास के इस नियम को क्रमागत सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम कहते हैं, क्योंकि कुल उपयोगिता तो बढ़ती है लेकिन सीमान्त उपयोगिता ही घटती है। यह नियम कुछ मान्यताओं पर आधारित है—उपभोक्ता के स्वभाव और आय में, फैशन और रुचियों में, उपभोग के स्थान और के समय में (दूसरे में ‘कनटिनि्यूटी’ से तात्पर्य है), वस्तु की इकाइयों के गुण में परिवर्तन नहीं होना चाहिए, किसी चीज की इकाइयाँ प्रति स्थापन्य होनी चाहिए और उसका क्रय या उपभोग यथेष्ट मात्रा में हो। इस सिद्धान्त के अपवाद ये हैं—यह अभौतिक संतुष्टियों के संबंध में, कृपण-जैसे असामान्य व्यक्ति के साथ, नहीं लागू होता। इतना होने पर भी यह सिद्धान्त व्यापक है और जीवन में प्रत्येक व्यक्ति इसका अनुभव करता है। किसी चीज की सीमान्त उपयोगिता मूल्य के घटने-बढ़ने से खुद घटती-बढ़ती है। वह पूर्ति के बढ़ने-घटने से भी घटती-बढ़ती है।

सम-सीमान्त उपयोगिता नियम

चूँकि मनुष्य के साधन सीमित हैं और उसकी इच्छाएँ अनन्त हैं इसलिए वह इस तरह से अपने साधनों का (वह कोई वस्तु हो या-मुद्रा हो) उपयोग करता है कि उपयोग के प्रत्येक मद से उसको समान संतोष या उपयोगिता मिले। जब हर मद से समान संतोष या

उपयोगिता मिलती है तब सम्पूर्ण संतोष या उपयोगिता अधिकतम होती है। इस नियम को इस तरह से रखा जा सकता है—“अगर किसी आदमी के पास कोई वस्तु (मुद्रा भी) रहती है तो वह उसका उपयोग विभिन्न मदों में इस प्रकार करता है कि हर मद से उसको समान उपयोगिता मिलती है—(सम सीमान्त उपयोगिता) जिससे उसकी उपयोगिता सर्वाधिक हो पाती है—(सर्वाधिक उपयोगिता)—और अगर वह देखता है कि किसी एक मद से उसे दूसरे मद की अपेक्षा कम उपयोगिता मिल रही है तब वह जिस मद से अधिक उपयोगिता मिलती है उससे कुछ खर्च कम करे दूसरे मद पर वह उतना अधिक खर्च करता है जब तक कि दोनों से समान उपयोगिता न मिलने लगे (प्रतिस्थापन)।”

यह नियम उपभोग और मुद्रा के व्यय करने में लागू होता है। उत्पादन में, और समय को कार्य और अवकाश में बाँटने में भी यह लागू होता है। उत्पादक उत्पादन के साधनों का सबसे “कम व्यय वाला समन्वय” अपनाता है और अधिक महँगे साधन के बदले कम महँगे साधन को लगाता है जब तक कि प्रत्येक साधन की अन्तिम इकाई की सीमान्त उपयोगिता (यहाँ उत्पादकता) समान न हो जाय क्योंकि ऐसा होने पर ही उसे अधिकतम संतोष या उपयोगिता (यहाँ मुनाफा) मिल सकता है। विनिमय में चाहे “वस्तु-वस्तु” विनिमय हो या “वस्तु-मुद्रा-वस्तु” विनिमय हो दो दल (या दो देश) मिलने वाली चीज की उपयोगिता और त्यागी जानेवाली चीज की उपयोगिता के फर्क से लाभ होने तक या उनके बराबर होने तक ही विनिमय करते हैं। आदमी धन खर्च करने और धन संग्रह करने में ऐसा धन-विभाजन करता है कि वर्तमान उपभोग और भावी उपभोग दोनों से बराबर उपयोगिता मिले अर्थात् वर्तमान में उपभुक्त की गई आय की अन्तिम इकाई से जो उपयोगिता मिले वह संग्रहीत आय की

अन्तिम इकाई से मिलने वाली उपयोगिता के बराबर हो। वितरण के क्षेत्र में भी किसी एक साधन की किसी इकाई को सीमान्त उत्पादकता के बराबर राष्ट्रीय आय में से हिस्सा मिलता है और किसी साधन की सीमान्त उत्पादकता को हम अन्य तीन साधनों की मात्राओं को स्थिर रखकर और एक ही साधन की मात्रा को एक इकाई से घटा या बढ़ाकर सम्पूर्ण आय में जो अन्तर पड़े उसके द्वारा जान सकते हैं।

यह नियम उसी दशा में लागू हो सकता है जब किसी साधन की इकाइयों स्वजातीय हों, उनकी पूर्ति पूर्णतया लोचपूर्ण हो, और उनका प्रतिस्थापन सुगमतापूर्वक हो सके। उपभोक्ता सीमान्त व्ययों से प्राप्त सीमान्त उपयोगिताओं की मात्राओं या अनुपातों की तुलना करता हो और उनकी समानता होने पर ही उपभोग करे। यह काल्पनिक और सैद्धान्तिक बात है, यह क्रियात्मक और व्यावहारिक सत्य नहीं। मुद्रा-स्फीति के जमाने में, विशेष अवसरों पर (शादी, आढ़, आदि) आदत से लाचार होने के कारण, दूसरों की नकल कर काम करने पर सिद्धान्त चरितार्थ नहीं होता। फिर भी यह एक प्रधान नियम है और मनुष्य “समझदार” पशु होने के कारण अपने आर्थिक आचरण में इसको अमल करता है। अर्थशास्त्र को हम चयन का विज्ञान इसी नियम की व्यापकता के कारण कहते हैं।

उपभोक्ता की बचत

पहले ही हम बता आए हैं कि उपभोक्ता की बचत कैसे उत्पन्न होती है। जीवन के लिए कुछ चीजें इतनी आवश्यक होती हैं कि हम बाजार में उनके लिए जो दाम देते हैं वे उनसे प्राप्त होनेवाली उपयोगिताओं के समान नहीं बल्कि कम होते हैं। अतएव कोई क्रेता या उपभोक्ता किसी चीज के लिए जो दाम दे सकता है और जो दाम वह वास्तव में देता है इन दोनों के अन्तर को हम उपभोक्ता की

बचत का मापक कह सकते हैं। दूसरी तरह से हम सम्पूर्ण उपयोगिता में से सीमान्त उपयोगिता और इकाइयों के शुद्धफल को घटाकर उपभोक्ता की बचत निकाल सकते हैं। अतएव उपभोक्ता की बचत संतोष के आधिक्य का मापक है। किसी चीज की एक इकाई जैसे पोस्टकार्ड या अखबार के लिए हम जितना देते हैं उससे अधिक हम दे सकते हैं। यही अन्तर उपभोक्ता की बचत का सूचक है। दूसरे शब्दों में किसी चीज या उसकी एक इकाई से प्राप्त की जानेवाली उपयोगिता और उसके बदले में त्यागी जानेवाली मुद्रा की उपयोगिता दोनों का अन्तर ही उपभोक्ता की बचत का बोधक है ॥

बाजार में उपभोक्ता की बचत को नापना इन कारणों से कठिन है—जीवन की आवश्यक वस्तुओं और सेवाओं के लिए आदमी अपना सर्वस्व दे सकता है। कुछ आराम और विलास की वस्तुओं के लिए अमीराना दाम दिये जाते हैं। इनकी उपभोक्ता की बचत बताना कठिन है। इसको नापने के लिए मूल्यों का सामान्य या स्वाभाविक मूल्य के आस-पास में होना नितान्त आवश्यक है। बाजार में आनेवाले उपभोक्ताओं की आर्थों में और मनोविज्ञानों में अन्तर होने के कारण एक ही वस्तु के लिए भिन्न-भिन्न आदमी भिन्न-भिन्न मूल्य देंगे। उपभोक्ता की बचत एक मनोविज्ञानिक सिद्धान्त है भी। जब किसी चीज के निकट एवजी रहते हैं तब उस चीज के मूल्य-परिवर्तन की पृष्ठभूमि में हम उससे प्राप्त उपभोक्ता की बचत को नहीं बता सकते, क्योंकि लोग एवजी चीजों का उपभोग करने लग जा सकते हैं।

उपभोक्ता की बचत आर्थिक परिवेष्टन की उपज है। इसके आधार पर एक परिवेष्टन और दूसरे परिवेष्टन के बीच आर्थिक हित की दृष्टि से तुलना की जा सकती है। इससे हम बतला सकते हैं कि क्यों कई चीजों के विनिमय-गत और प्रयोगगत मूल्यों में फर्क पड़

जाता है। हम बतला सकते हैं कि भिन्न-भिन्न देशों में क्यों कम-वेश मुद्रा से समान आनंद प्राप्त कर आदमी उपभोक्ता की बचत अनुभव कर सकता है। हम ग्राम्य और नगर-जीवन की भिन्नता को दिखा सकते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से प्रसूत लाभ का भी इससे अनुमान लग सकता है। किसी सरकार के अर्थ-सचिव को और यहाँ तक कि किसी एकाधिकारी को भी इस सिद्धान्त पर विचार कर क्रमशः कर लगाना और मूल्य निर्धारित करना पड़ता है। पूँजीवाद की अपेक्षा समाज-वाद अपने नागरिकों को अधिक मात्रा में उपभोक्ता की बचत प्रदान करता है। इन सभी दृष्टियों से, आर्थिक कल्याण की नजर से, इस सिद्धान्त का महत्व अपविकसित देशों के लिए बहुत ही ज्यादा है।

सम्पत्ति

सम्पत्ति में वे सभी भौतिक चीजें और अनौतिक चीजें और सेवाएँ आती हैं जो उपयोगी, अभावपूर्ण, हस्तान्तरयोग्य, बहिर्गत और विनिमय-मूल्य सम्पन्न होती हैं। काला अनोफिल मच्छड़ और हवा सम्पत्ति नहीं ! मनुष्य का मस्तिष्क सम्पत्ति का साधन है लेकिन वह सम्पत्ति नहीं, क्योंकि उसे बेचा नहीं जा सकता। मनुष्य की चतुराई और दूसरे गुण (अभिनेत्री का अनुपम सौंदर्य और नजाकत !) उसी तरह सम्पत्ति नहीं होते हुए भी सम्पत्ति के साधन हैं। मनुष्य की सम्पत्ति उसके पास की चीजों (और सेवाओं का भी) का मौद्रिक मूल्य है। सम्पत्ति गतिशील है और मनुष्य का उपयोग किसी चीज को सम्पत्ति बना देता है। छोआ पहले सम्पत्ति नहीं था। अब जब उससे चीजें बनने लगी हैं तब वह सम्पत्ति बन गया है। सम्पत्ति के अन्दर बहुत-सी चीजें जो मानव-सुख के लिए अनिवार्य हैं, यथा—प्रेम, मैत्री, स्नेह—नहीं आती और बहुत-सी चीजें जो लाभ के बदले हाथि पहुँचाती हैं, यथा—शराब, वेश्याओं की सेवा, आदि—सम्पत्ति में इसलिये आती हैं कि उनमें उसके लक्षण पाए जाते हैं। सम्पत्ति को निजी, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय सम्पत्ति तीन भागों में बाँटा गया है।

मानवीय इच्छाएं

मानवीय इच्छाओं से ही आर्थिक क्रियाएँ उत्पन्न होती हैं। इसीलिए उनका अर्थशास्त्र में अध्ययन होता है। इनके अग्रलिखित लक्षण बताए जाते हैं—इच्छाएँ अगणित, प्रतियोगिताशील, सम्पूरक, प्रगतिशील, प्रतिस्थाप्य, और मौलिक हैं। कोई भी इच्छा संतुष्ट की जा सकती है। जीवन की जरूरियात, चीजों की इच्छाएँ, आवर्तक और आराम-विलास की चीजों की इच्छाएँ अनावर्तक होती हैं। मनुष्य की इच्छाएँ आन्तरिक तथा बाह्य दोनों प्रकार की प्रेरणाओं द्वारा संचालित होती हैं। किसी इच्छा को कुछ बार संतुष्ट करने पर वह आदत का रूप धारण कर लेती है। इच्छाओं की तीव्रता भिन्न-भिन्न होती है। इसीसे सीमित साधनों से आदमी चयन की हुई इच्छाओं को संतुष्ट कर पाता है। क्रमागत सीमान्त उपयोगिता ह्रास और सम-सीमान्त उपयोगिता नियम इन्हीं लक्षणों से निकले हैं। इच्छाएँ दामरूपी जादूगर द्वारा प्रभावित होती हैं।

इच्छाएँ दो कोटियों में बाँटी जा सकती हैं—मौलिक इच्छाएँ और उत्तम इच्छाएँ। इनको भी चार वर्गों में रख सकते हैं—(१) जीवन की आवश्यकताएँ जो जीवन-धारण के लिए जरूरी हैं। (२) परम्परागत आवश्यकताएँ जो निपुणतादायक होती हैं। (३) आराम-दायक चीजों की इच्छाएँ और (४) विलास की चीजें। यदि किसी चीज के लिए जो मूल्य दिया जाता है वह उसके मिलनेवाली उपयोगिता से बहुत कम है तो उसको पहले वर्ग में, अगर वह उस उपयोगिता से कुछ कम है तब उसको दूसरे वर्ग में, अगर वह मिलने वाली उपयोगिता से समान है तब उसको तीसरे वर्ग में और अगर वह मिलने-वाली उपयोगिता से अधिक है तब उसको चौथे वर्ग में रखेंगे। देश, काल और पात्र के अनुसार कोई चीज अपना वर्ग बदल सकती है।

मांग और मांग का नियम

मांग से अर्थशास्त्र में किसी दाम पर मांगी प्रभावोत्पादक मांग से होता है। किसी समय किसी चीज का दाम पूर्ण बाजार में एक ही होता है। प्रभावोत्पादक मांग में मतलब उस मांग से है जिसके पीछे क्रय-शक्ति अर्थात् मुद्रा का जोर या बल रहता है।

मांग का नियम हमें यह बताता है कि कैसे अन्य अवस्थाओं के सुस्थिर रहने पर किसी चीज के मूल्य में परिवर्तन (वृद्धि या कमी) होने से उसकी मांग में भी परिवर्तन (कमी या वृद्धि) होता है। यदि हम किसी एक क्रेता के द्वारा किसी वस्तु के विभिन्न मूल्यों पर मांगों विभिन्न परिमाणों की एक सारिणी, सूची या तालिका बनावें तो उसे वैयक्तिक मांग की तालिका कहेंगे। आयानुसार, रूचि के अनुसार, हर क्रेता की पृथक मांग-तालिका होगी। यदि हम बाजार-भर के क्रेताओं की मांग—तालिका को जोड़कर एक सामूहिक मांग-तालिका बनावें तो उसको बाजारगत मांग-तालिका कहेंगे। जितनी वैयक्तिक मांग-तालिकाएँ हैं उन सबमें हम मांग का नियम चरितार्थ पावें, ऐसा हो भी सकता है, नहीं भी हो सकता है, लेकिन बाजारगत मांग-तालिका को देखने पर मांग का नियम पूरी तरह से चरितार्थ होता हुआ मिलेगा। इसका कारण है कि बाजार में वैयक्तिक मांग-तालिकाओं की विषमताएँ कट-छूट जाती हैं और हमें बाजार का एक लयपूर्ण और ठोस चित्र मिलता है।

कभी-कभी कुछ कारणों से दिए मूल्य पर ही किसी चीज की बाजारगत मांग में उलट-फेर हो जाता है। इनमें से कुछ कारण यों हैं—जलवायु और मौसिमों में परिवर्तन होना, आर्यों के वर्ग-वर्ग के बीच वितरण में जो असमानताएँ हैं उनके अंशों में फर्क होना, निजी आमदनी में कमी-वेशी होना, सरकार की राजस्व और सार्वजनिक व्यय-नीति में परिवर्तन होना, फैशन और रुचियों में, आबादी

की संख्या और स्वरूप में, आबादी के आयात और निर्यात में, मुद्रा के मूल्य में, सम्पूरक (या सहयोगी) और प्रतियोगी वस्तुओं की कीमतों में, व्यापार की वर्तमान स्थिति में, आदि में परिवर्तन होने से समान मूल्य पर मांग आवश्यकतानुसार घट-बढ़ सकती है। मौसिमी कारणों (मेला, पर्व, तमाशा) और परीक्षा-फल अखबार के कारण भी ऐसा हो सकता है। लड़ाई, संकट, बाढ़, दुर्भिक्ष के कारण भी चीजों के मूल्य स्थिर रहने पर भी उनकी मांगों में कमी-वेशी हो जाती है। विज्ञापन-बाजी और प्रचार-कार्य का भी प्रभाव मांग पर पड़ता है।

निम्नलिखित वजहों से ऐसा मुमकिन है कि मांग का नियम भंग हो जाय। दूसरे शब्दों में, दाम बढ़ने पर सम्पूर्ण मांग न घटे, और दाम घटने पर सम्पूर्ण मांग न बढ़े—महामारियों का फैलना, फैशन और रुचियों में फर्क पड़ना, आमदनियों का घटना-बढ़ना, मौसिमी और जलवायु में परिवर्तन, पर्व, त्योहार, और मेला-तमाशा के कारण, तथा सहयोगी या सम्पूरक वस्तु के दाम में परिवर्तन होने से।

मांग की लोच

मांग का नियम केवल यही बतलाता है कि दाम में परिवर्तन होने पर मांग के परिमाण में प्रतिकूल दिशा में परिवर्तन होता है। लेकिन वह यह नहीं बतलाता कि मांग के परिमाण में जो परिवर्तन होता है उसका अनुपात तथा वेग दाम में होने वाले परिवर्तन के अनुपात तथा वेग की तुलना में कितना—कम, अधिक या बराबर—है। मांग की लोच का नियम इसी पक्ष के ऊपर प्रकाश डालता है।

जब दोनों—मांग पर किए व्यय में परिवर्तन और दाम में परिवर्तन—समान होते हैं तब लोच इकाई, जब दाम के परिवर्तन से मांग का परिवर्तन अधिक (या कम) होता है तब वह इकाई से अधिक (या कम) होती है।

निम्नलिखित दशाओं में मांग लोचपूर्ण होती है—आराम और विलास की वस्तुओं की मांग जो दरिद्र और मध्यवित्त के लोगों द्वारा होती है, जिन चीजों के एवजो होते हैं, जिस चीज का क्रय स्थगित किया जा सकता है, जिसके कई उपयोग हो सकते हैं, जब समाज में आय एवं सम्पत्ति का वितरण समान होता है। गरीब देशों में नमक की मांग लोचपूर्ण होती है। सन्ध्या समय नाशवान, एक-प्रयोग वस्तुओं की मांग लोच अधिक होती है। उसी समय इन चीजों की ढाक बोली जाती है। हमें 'थो-एवे' मूल्य का उदाहरण यहीं मिलता है। बंजर जमीनों की मांग आस-पास में सार्वजनिक संस्थाओं के खुलने, पानी-प्रकाश का इन्तजाम होने पर लोचपूर्ण हो जाती है। मौसिमी तरकारियों की मांग लोचपूर्ण होती है। लग्न के कारण कई चीजों की मांग लोचपूर्ण हो जाती है। बहुत अधिक या लगभग अधिक दाम वाली चीजों की मांग लोचपूर्ण होती है। पशुओं को खिलाने में जब कोदो मडुआ आने लगते हैं तब भी मांग लोचपूर्ण होती है।

निम्नलिखित दशाओं में मांग लोचहीन होती है—जीवन की जरूरियात और परम्परागत चीजों के लिए, संयुक्त मांग की चीजों की मांग, कम दामवाली चीजों की मांग लोचपूर्ण होती है। जब समाज में आय एवं सम्पत्ति का वितरण असमान होता है, जब मामूली अनार्जो, जैसे—कोदो और मडुआ—का उपभोग मनुष्यों द्वारा होता है, जब दीर्घकालीन अवधि है, जब किसी चीज पर समूची आमदनी का एक अत्यन्त तुच्छ हिस्सा खर्च होता है, तब मांग लोचहीन होती है। फैशन के कारण मांग लोचपूर्ण और लोचहीन दोनों हो सकती है। मांग की लोच के अंश के ऊपर विचार करते समय अच्छा यही होता है कि किसी एक वर्ग के लगाव में, किसी एक अवधि में किसी वस्तु की मांग का अध्ययन करें। लोच वस्तु की प्रकृति और दाम द्वारा भी प्रभावित होती है।

मांग की लोच का व्यावहारिक महत्त्व पूर्ण एवं अपूर्ण प्रतियोगितात्मक और एकाधिकार-आत्मक मूल्य-निश्चित करते समय होता है। (देखिए पृष्ठ ६४-६६) एकाधिकारी उपभोक्ता की बचत की रक्षा के लिए, अर्थ-सचिव कर लगाते समय, रेलवे कम्पनियाँ यातायात और आवागमन की दूरों को निर्धारित करते वक्त, उत्पत्ति के नियमों के प्रसंग में, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में, विक्रय और बाजार के कार्यों में, संयुक्त पूर्ति में, साधनों में आय का हिस्सा वितरित करते समय, प्रसूत मांग (घर के लिए मांग होने पर थवई, कच्चेमाल, आदि के लिए जो मांग होती है उसे प्रसूत मांग कहते हैं) की हालत में, कर के संवहन-इन्सिडेन्स-को निर्धारित करते समय मांग की लोच पर विचार करना होता है। अतएव यह बड़ा ही उपादेय नियम है।

पूर्ति और पूर्ति का नियम

किसी समय किसी दाम पर किसी वस्तु का उत्पादक जो पूर्ति करता है उसीको अर्थशास्त्र में पूर्ति कहते हैं। दाम में परिवर्तन होने में पूर्ति के परिमाणों में जो परिवर्तन होते हैं उन्हीं को पूर्ति का नियम बतलाता है। यदि हम विभिन्न समयों पर विभिन्न दामों पर किसी उत्पादक द्वारा की गई पूर्तियों की एक तालिका बनावें तो उसको हम पूर्ति की तालिका कह सकते हैं। अगर सभी उत्पादकों की तालिकाओं को मिला दें तो हमें बाजारगत पूर्ति-तालिका मिल जायगी। इससे पूर्ति के नियम का धाखूभी परिचय मिल सकता है। जिन कारणों से मांग का नियम भंग हो जाता है, या स्थिर दाम पर ही मांग में परिवर्तन होता है वे ही पूर्ति के नियम के अपवादों को भी बतलाते हैं। केवल यहाँ उत्पादन के ढंगों पर परिवर्तन, मजदूरों और मालिकों के बीच के संबंध-भाव और आयात और निर्यात की स्थिति पर अलग से विचार करना होता है।

बाजार मूल्य बनाम स्वाभाविक मूल्य

(प्रतियोगिता में वस्तुओं के मूल्यकरण का सिद्धान्त)

किसी चीज का एक स्वाभाविक मूल्य होता है जिसके चारो ओर मांग एवं पूर्ति की शक्तियों में सहसा परिवर्तन होने से बाजार मूल्य चक्कर काटते रहते हैं, लेकिन उस चीज का मूल्य अपने स्वाभाविक स्तर को प्राप्त करने की प्रवृत्ति रखता है। स्वाभाविक मूल्य एक सप्ताह या इससे कुछ अधिक अवधि के बाद बाजार के अधिक स्थिर और चिरस्थायी, दृढ़ और सबल प्रभावों द्वारा पैदा होता है। इसके दो रूप हो सकते हैं—अर्द्ध स्वाभाविक मूल्य जिसपर मांग तथा पूर्ति में विभिन्नता बनी ही रहती है और वस्तु के दाम तथा व्यय में भी समानता स्थापित नहीं होती; यथार्थ स्वाभाविक मूल्य जिसपर मांग तथा पूर्ति, वस्तु के दाम तथा व्यय, दोनों बराबर हो जाते हैं। स्वाभाविक अवधि २०-२५ वर्षों की भी हो सकती है और कुछ महीनों की भी। बाजार-मूल्य किसी बाजार दिन को मांग के प्रभाव द्वारा, जब कि पूर्ति एकदम स्थिर होती है, या एक सप्ताह के अन्दर निर्धारित होता, और चलता रहता है।

किसी चीज का बाजार मूल्य उस बिन्दु पर जहाँ मांग (जो मांग-गत दाम द्वारा व्यक्त होती है जो खुद उपयोगिता का द्योतक होता है) और पूर्ति (जो पूर्ति दाम द्वारा व्यक्त होती है जो खुद व्यय या लागत का द्योतक है) की पारस्परिक शक्तियाँ घात-प्रतिघात के बाद एक दूसरे को काटती हैं तय होता है। यहीं पर संतुलन मूल्य उत्पन्न होता है। यहीं पर माँगगत दाम और पूर्तिगत दाम बराबर होते हैं। यों तो पूर्ण बाजार में प्रत्येक विक्रेता या प्रत्येक क्रेता के लिए किसी चीज का दाम दिया होता है, पूर्व निश्चित रहता है, कोई विक्रेता या क्रेता उसको प्रभावित नहीं कर सकता और न सम्पूर्ण माँग या पूर्ति को ही प्रभावित

कर सकता है तो भी कुल विक्रेता और कुल क्रेता आपसी प्रतियोगिता के जरिए दाम को प्रभावित कर सकते हैं। माँगगत दाम किसी वस्तु की उच्चतम सीमा है तो उसका पूर्तिगत दाम उसकी निम्नतम सीमा। संतुलन मूल्य इन दोनों सीमाओं के बीच में माँग तथा पूर्ति की पारस्परिक लोचों द्वारा निश्चित होता है। बाजारगत मूल्य में किसी चीज की जो पूर्ति (अर्थात् विक्री) होती है वह उसके स्टॉक (जो तैयार किया गया है) के बराबर होती है। यह खासकर एक प्रयोग और शीघ्र नाशवान वस्तुओं के साथ बहुत सत्य होता है। यहाँ तक कि बाजार दिन के अन्त में जब उत्पादक देखता है कि उसकी चीज का एक भाग बच गया है तब वह उसकी डाक बोल डालता है। इसे डाक-दाम या 'थो एवे प्राइस' कहा जाता है। इससे बहुत-से उपभोक्ताओं को उपभोक्ता की बचत प्राप्त हो जाती है। कुछ ऐसी चीजें भी बाजार दिन को आ सकती हैं जो अंशतः टिकाऊ हैं और जिन्हें संग्रहीत कर रखा जा सकता है। उदाहरण के लिए अनाज और फाउन्टेनपेन। इनकी दशा में अगर उत्पादक देखता है कि इनकी माँग (तदर्थ कीमत) कम हो रही है तो वह इनको अपने एक सुरक्षित दाम—रिजर्व प्राइस—से कम में नहीं बेचेगा और वह उनका एक हिस्सा अपने गोदाम-घर में रख देगा जिससे भविष्य में वह फायदा उठावे। यहाँ वह स्वयं इन चीजों का मानों उपभोक्ता बन जाता है। इस दशा में स्टॉक और पूर्ति बराबर नहीं होते। यहाँ पूर्तिरूपी धार निर्जीव और निश्चल न रहकर थोड़ी सजीव और संचल हो जाती है।

यहाँ हमें यह सोचना है कि बाजार-काल में माँग और पूर्ति रूची कैचों की दो धारों में माँगवाली धार ही प्रमुख होती है, पूर्ति तो दी हुई है। अगर माँग बढ़ गई तो दाम बढ़ जायगा और अगर माँग घट गई तो दाम घट जायगा। पूर्ति कम-बेश नहीं की जा सकती। अतएव माँग और पूर्ति में बाजार-संतुलन कायम होता है। लेकिन

अभी बताया गया है कि टिकाउपन होने पर पूर्ति में परिवर्तन हो सकता है। यह कभी-कभी भावी उम्मीदों के कारण भी होता है। भावी कीमतों—शैडो प्राइसेज—का अन्दाज कुछ उत्पादक या विक्रेता लगाते हैं और उनके अनुसार आचरण करते हैं। कहने का मतलब है कि बाजार-काल में माँग की लोच अधिक और पूर्ति की लोच बिल्कुल कम होती है।

सामान्य या स्वाभाविक काल में स्थिति बदलती है। यह दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—लघुकालीन स्वाभाविक काल और दीर्घकालीन स्वाभाविक काल। लघुकालीन स्वाभाविक काल में किसी चीज की बड़ी माँग के बराबर पूर्ति करने की कोशिश की जाती है। उत्पादन के साधन, विशेषकर पूँजी (मशीन, आदि) स्थिर—स्थायी—रहती है। उपरी बेला काम करके, अधिक मिहनत करके, उत्पादक कोशिश करते हैं कि चीजों की पूर्ति—फलों—को बढ़ावें क्योंकि चीज की कीमत बढ़ी होने से उनको मुनाफा भी अधिक होता है। उनमें इच्छा का अभाव नहीं होता, शक्ति का अभाव होता है। बहुत परिश्रम करने के उपरान्त वे पूर्ति को कुछ बढ़ा पाते हैं, लेकिन इसपर भी वह बड़ी माँग के बराबर नहीं हो पाती। चीज का दाम बढ़ा हुआ है। उसका उत्पादन-व्यय उससे नीचे है। अतएव इस काल में दाम सीमान्त-व्यय (एक अधिक अदक को तैयार करने का व्यय) के बराबर होने पर ही उत्पादन बढ़ता है। दाम (अर्थात् औसत आय) औसत व्यय के बराबर नहीं होता। औसत व्यय और सीमान्त व्यय में फर्क उत्पन्न होने से जो सीमान्त से अधिक निम्न उत्पादक हैं, वे अस्वाभाविक नफा पैदा करते हैं। इससे उस चीज के नए उत्पादक प्रविष्ट होते हैं। आपस की प्रतियोगिता से दो बातें होती हैं। एक तो पूर्ति माँग के बराबर हो जाती है। दूसरे दाम अथवा औसत आय औसत व्यय के बराबर हो जाता है।

दूसरे शब्दों में, दाम और व्यय में भी संतुलन हो जाता है। यह दीर्घकालीन स्वाभाविक काल में हो पाता है। इसमें उत्पादन के साधनों का स्टॉक भी परिवर्तित—फ्लो—हो जाता है और उससे वस्तु का प्रवाह—फ्लो—अर्थात् पूर्ति होती है। लघुकालीन स्वाभाविक काल में पूर्ति का प्रभाव बढ़ता है और दीर्घकालीन स्वाभाविक काल में वह प्रमुख हो जाता है। मांग का प्रभाव दब जाता है। इसमें पूर्ति की लोच अधिक और माँग की लोच कम होती है।

हम मछली का उदाहरण दे सकते हैं। मछली का बाजार-मूल्य मांग के द्वारा निर्धारित होगा। अगर माँग कुछ कारणों से अधिक (या कम) हो गई है तो उसका बाजार मूल्य अधिक (या कम) होगा। यदि कम माँग के कारण मछली का कुछ भाग बचनेवाला नजर आता है तो उसके विक्रेता दाम को अपनी ओर से कम करके मछली ढाहकर बेच देंगे। अगर वे दाम को एकदम गिरने देना नहीं चाहते हैं तब वे अपने 'सुरक्षित दाम' से प्रभावित होकर मछली का एक हिस्सा नहीं बेचेंगे, भले ही उसे खुद खाय या खाद डाल दें। मछली की माँग बढ़ने पर उसका दाम बढ़ जायगा। मछली अधिक रात तक मछली मारेंगे। अपनी पत्नी और सन्तानों से मदद लेंगे। लेकिन उनके साधनों—जैसे, जाल, घड़ा, नाव, आदि की पूर्ति लगभग स्थिर होने से वे मछली की पूर्ति को उसकी माँग के बराबर बढ़ाकर नहीं कर सकते। अतएव दाम बढ़ा ही रहेगा। यह लघुकालीन स्वाभाविक दाम हुआ। जैसे-जैसे अवधि दीर्घ से दीर्घतर होगी वैसे-वैसे वे अपने साधनों की पूर्ति को भी बढ़ाकर मछली की पूर्ति को बढ़ा देंगे जिससे उसकी माँग एवं पूर्ति समान हो जायँ और पूर्ति बढ़ने से दाम भी कम हो जाय अर्थात् स्वाभाविक स्तर प्राप्त कर ले।

लेकिन एक तरह का मूल्य और होता है जिसे आत्यंतिक—

सेकुलर-दाम कहते हैं। यह कई वर्षों (२० या २५ वर्षों से भी अधिक के बाद पैदा होता है। इस अवधि में आन्तरिक और बाह्य आर्थिक तथ्यों में—जैसे, जनसंख्या, उत्पादन का टेकनिक, उत्पत्ति का नियम, रुचि, और फैशन, सरकारी कार्यों में, प्रवृत्ति—समूल परिवर्तन हो सकता है जिसका प्रभाव चीज की माँग और पूर्ति (उदाहरणार्थ मछली) पर पड़ सकता है जिससे उसका (मछली) दाम घट-बढ़ सकता है। हम आगे चलकर बतलायेंगे कि कैसे कृषि, खनन-कार्य, मछली मारने के व्यवसाय, मकान बनाने के कार्य, आदि में क्रमागत उत्पत्ति ह्रास अर्थात् क्रमागत उत्पादन-व्यय वृद्धि का नियम अधिक वेग के साथ लागू होता है और किस तरह शिल्पीय उद्योग-धंधों में—कपड़े, मशीनरी, लोहा-इस्पात के उद्योग में—क्रमागत उत्पत्ति वृद्धि अर्थात् क्रमागत उत्पादन-व्यय ह्रास का नियम अधिक शक्ति के साथ चरितार्थ होता है। पहले नियम के कारण किसी चीज का दाम एक बार बढ़ने (घटने) पर बढ़ा ही (घटा ही) रह सकता है जब तक कि प्रतिकूल उत्पत्ति नियम लागू नहीं होने लगे। ऊपर जो कालगत अवधियों का विभाजन हुआ है वह विश्लेषण की सुविधा के लिये। वह कृत्रिम और स्थूल है। प्रकृति इस तरह के विभाजन का नियम नहीं मानती। काल तो अनादि-अनन्त एक सरिता की तरह है। जिस तरह समाज की सभ्य और असभ्य अवस्थाओं के बीच कोई भेदक-रेखा नहीं खिंची जा सकती उसी तरह बाजारगत अवधि, लघुकालीन स्वाभाविक अवधि और दीर्घकालीन स्वाभाविक अवधि के बीच भी। फिर भी मौलिक विश्लेषण की दृष्टि से आर्थिक प्रणाली की गतिविधि, मुद्रा एवं मूल्य-स्तर की प्रवृत्तियों, दाम और व्यय के लगाव, आदि को बताने के लिए इसकी नितान्त आवश्यकता है। “संतुलन का अध्ययन संतुलन के लिए” के साथ “संतुलन का अध्ययन अधिक सुख के लिए” भी मान्य है। अर्थशास्त्र को यथार्थ एवं आदर्श दोनों का, निगमन और

आगमन प्रणालियों से विवेचन करना चाहिए। शरीर के स्वाभाविक ताप की तरह स्वाभाविक मूल्य भी विचारणीय हैं।

मूल्यकरण का सामयिक [ओपौरचूनिटी] व्यय-सिद्धान्त

हम अच्छी तरह से जानते हैं कि दुनिया में हर प्रकार के साधन का बुनियादी अभाव है। भूमि की पूर्ति क्षेत्रफल के मानी में तो हरगिज नहीं बढ़ाई जा सकती है। पूँजी की पूर्ति एक अवधि में स्थिर रहती है, लेकिन भविष्य में परिवर्तनशील है। श्रम की पूर्ति के साथ वही बात है। संगठन की पूर्ति भी अभावपूर्ण ही है। अभावहीनता के अनुसार ही पूर्ति की लोचहीनता भी होती है। अगर अभाव अधिक है तो पूर्ति अधिक लोचहीन होगी। उत्पादन के सीमित साधनों के बहुविध अथवा वैकल्पिक उपयोग हो सकते हैं। यदि हम उनको एक वस्तु के उत्पादन में लगाते हैं तो वे दूसरी वस्तु के उत्पादन में नहीं लग सकते। हाँ, यह जरूर है कि दोनों वस्तुओं के उत्पादन में उनको थोड़ा-थोड़ा लगाया जा सकता है। लेकिन तब भी तो पहले जिस मात्रा में कोई वस्तु तैयार हो सकती थी, उतनी मात्रा में तैयार नहीं होने पाती। अतएव किसी “अ” वस्तु को तैयार करने में लगाए साधनों को उतना-उतना मूल्य देना पड़ेगा जितना-जितना वे किसी दूसरी “ब” वस्तु के तैयार करने में लगने पर पा सकते हैं अर्थात् जो उनका “हस्तान्तर मूल्य”, (ट्रैन्सफर-प्राइस) है। हम जिस चीज को तैयार करते हैं वह उस दूसरी चीज का व्यय है जिसे हम तैयार कर सकते थे। यही सामयिक व्यय है। एक तो तैयार करने के अवसर को उत्सर्ग करके ही हम दूसरी को तैयार करने का अवसर पाते हैं। अतएव किसी वस्तु का मूल्य उस वस्तु में लगे साधनों को दिए पारिश्रमिकों के योगफल के समान होगा। इस तरह की विधि अपनाने पर हम मुद्रागत रूप

में, बिना तथाकथित वास्तविक व्यय (श्रमिकों के कष्ट एवं त्याग, और प्रतीक्षा या विरक्ति के कारण पूँजी-संग्रहकर्त्ताओं को हुए त्याग-जन्य कष्ट) के विवाद-ग्रस्त सवाल को छोड़े ही हम किसी वस्तु (या सेवा) के मूल्य को प्रकाशित कर सकते हैं। इस सिद्धान्त के जरिए हम किसी चीज का ही मूल्य-निर्णय नहीं कर सकते, प्रत्युत हम किसी उत्पादन के साधन का भी मूल्यांकन कर सकते हैं। एक गज कपड़े का मूल्य क्या होगा ? उत्तर है वही जो उसके तैयार के करनेवाले उत्पादन-साधनों को दिए गए पारिश्रमिकों के योगफल के बराबर है। फिर पूछा जा सकता है कि उत्पादन-साधनों को कितना-कितना पारिश्रमिक दिया जाता है ? उत्तर है कि उतना-उतना ही जो एक गज कपड़ा तैयार करने में न लगकर और किसी चीज, जैसे जूता, बनाने में लगने पर वे कमा सकते थे। अतएव हम देखते हैं कि यह सिद्धान्त केवल मूल्यकरण या विनिमय की घटना को ही नहीं समझता बल्कि वह वितरण की घटना पर भी पर्याप्त प्रकाश डालता है। यही इस सिद्धान्त की श्रेष्ठता है। इस सिद्धान्त में सीमान्त उपयोगिता के सिद्धान्त के दोष नहीं हैं, क्योंकि उपयोगिता को हम मुद्रा में व्यक्त नहीं कर सकते।

एकाधिकार और एकाधिकार-मूल्य

एकाधिकार उस व्यवसाय-संगठन का नाम है जिसमें किसी चीज के उत्पादन का एक ही उत्पादक होता है जो उसकी उत्पत्ति और पूर्ति करता है। इस व्यवसाय में किसी नये उत्पादक का आना अवरुद्ध या निषिद्ध या असंभव रहता है। इससे एकाधिकारी का एकान्त अधिकार उस चीज की पूर्ति और दाम पर रहता है। आम तौर से हम जल, गैस, बिजली, आदि चीजों में एकाधिकार को पाते हैं। जब इनका आधिपत्य व्यक्तियों के हाथों में रहता है तब उसे वैयक्तिक एकाधिकार और जब सरकार के हाथों में रहता

आगमन प्रणालियों से विवेचन करना चाहिए। शरीर के स्वाभाविक ताप की तरह स्वाभाविक मूल्य भी विचारणीय हैं।

मूल्यकरण का सामयिक [ओपौरचूनिटी] व्यय-सिद्धान्त

हम अच्छी तरह से जानते हैं कि दुनिया में हर प्रकार के साधन का बुनियादी अभाव है। भूमि की पूर्ति क्षेत्रफल के मानी में तो हरगिज नहीं बढ़ाई जा सकती है। पूँजी की पूर्ति एक अवधि में स्थिर रहती है, लेकिन भविष्य में परिवर्तनशील है। श्रम की पूर्ति के साथ वही बात है। संगठन की पूर्ति भी अभावपूर्ण ही है। अभावहीनता के अनुसार ही पूर्ति की लोचहीनता भी होती है। अगर अभाव अधिक है तो पूर्ति अधिक लोचहीन होगी। उत्पादन के सीमित साधनों के बहुविधि अथवा वैकल्पिक उपयोग हो सकते हैं। यदि हम उनको एक वस्तु के उत्पादन में लगाते हैं तो वे दूसरी वस्तु के उत्पादन में नहीं लग सकते। हाँ, यह जरूर है कि दोनों वस्तुओं के उत्पादन में उनको थोड़ा-थोड़ा लगाया जा सकता है। लेकिन तब भी तो पहले जिस मात्रा में कोई वस्तु तैयार हो सकती थी, उतनी मात्रा में तैयार नहीं होने पाती। अतएव किसी “अ” वस्तु को तैयार करने में लगाए साधनों को उतना-उतना मूल्य देना पड़ेगा जितना-जितना वे किसी दूसरी “ब” वस्तु के तैयार करने में लगने पर पा सकते हैं अर्थात् जो उनका “हस्तान्तर मूल्य”, (ट्रान्सफर-प्राइस) है। हम जिस चीज को तैयार करते हैं वह उस दूसरी चीज का व्यय है जिसे हम तैयार कर सकते थे। यही सामयिक व्यय है। एक तो तैयार करने के अवसर को उत्सर्ग करके ही हम दूसरी को तैयार करने का अवसर पाते हैं। अतएव किसी वस्तु का मूल्य उस वस्तु में लगे साधनों को दिए पारिश्रमिकों के योगफल के समान होगा। इस तरह की विधि अपनाने पर हम मुद्रागत रूप

में, बिना तथाकथित वास्तविक व्यय (श्रमिकों के कष्ट एवं त्याग, और प्रतीक्षा या विरक्ति के कारण पूँजी-संग्रहकर्त्ताओं को हुए त्याग-जन्य कष्ट) के विवाद-ग्रस्त सवाल को छोड़े ही हम किसी वस्तु (या सेवा) के मूल्य को प्रकाशित कर सकते हैं। इस सिद्धान्त के जरिए हम किसी चीज का ही मूल्य-निर्णय नहीं कर सकते, प्रत्युत हम किसी उत्पादन के साधन का भी मूल्यांकन कर सकते हैं। एक गज कपड़े का मूल्य क्या होगा ? उत्तर है वही जो उसके तैयार के करनेवाले उत्पादन-साधनों को दिए गए पारिश्रमिकों के योगफल के बराबर है। फिर पछा जा सकता है कि उत्पादन-साधनों को कितना-कितना पारिश्रमिक दिया जाता है ? उत्तर है कि उतना-उतना ही जो एक गज कपड़ा तैयार करने में न लगकर और किसी चीज, जैसे जूता, बनाने में लगने पर वे कमा सकते थे। अतएव हम देखते हैं कि यह सिद्धान्त केवल मूल्यकरण या विनिमय की घटना को ही नहीं समझता बल्कि वह वितरण की घटना पर भी पर्याप्त प्रकाश डालता है। यही इस सिद्धान्त की श्रेष्ठता है। इस सिद्धान्त में सीमान्त उपयोगिता के सिद्धान्त के दोष नहीं हैं, क्योंकि उपयोगिता को हम मुद्रा में व्यक्त नहीं कर सकते।

एकाधिकार और एकाधिकार-मूल्य

एकाधिकार उस व्यवसाय-संगठन का नाम है जिसमें किसी चीज के उत्पादन का एक ही उत्पादक होता है जो उसकी उत्पत्ति और पूर्ति करता है। इस व्यवसाय में किसी नये उत्पादक का आना अवरोध या निषिद्ध या असंभव रहता है। इससे एकाधिकारी का एकान्त अधिकार उस चीज की पूर्ति और दाम पर रहता है। आम तौर से हम जल, गैस, बिजली, आदि चीजों में एकाधिकार को पाते हैं। जब इनका आधिपत्य व्यक्तियों के हाथों में रहता है तब उसे वैयक्तिक एकाधिकार और जब सरकार के हाथों में रहता

है तब उसको सार्वजनिक एकाधिकार कहते हैं और दूसरा प्रकार ही अधिक संभव है ।

अब विचारना होगा कि एकाधिकारी अपनी चीज का मूल्य किस तरह से निर्धारित करता है । जैसा कि अभी कहा गया वह पूर्ति और दाम दोनों को नियंत्रित कर सकता है । अगर वह चाहे तो पूर्ति को कम (अधिक) करके दाम को अधिक (कम) कर सकता है । अगर वह चाहे तो दाम को कम (अधिक) करके पूर्ति को अधिक (कम) कर सकता है । लेकिन हमें यहाँ सोचना होगा कि वह तो एकान्त पूर्तिकर्त्ता है ही तो उसको ऐसा करने से क्या लाभ है ? अतएव उसका चाव किसी खास दाम या पूर्ति में नहीं रहता । उसका चाव इस बात में रहता है कि वह किस तरह अपने मुनाफे को (जिसे रेवेन्यु कहते हैं) अधिकतम बना सके । और यह तभी होगा जबी उसकी सीमान्त आय (एक अधिक अदद तैयार करके उसे बेचने पर मिली आय , सीमान्त व्यय (एक अधिक अदद तैयार करने उसे जो खर्च पड़े) के बराबर हो । जब ये दोनों बराबर होते हैं तब एकाधिकारी संतुलित अवस्था में रहता है और उसका उत्पादन संतुलित रहता है और उसका खालिस मुनाफा दी हुई परिस्थिति में यथासंभव अधिकतम होता है । एकाधिकारी का दाम कितना होगा ? दाम को औसत आय भी कहते हैं । उसका दाम हर हालत में सीमान्त आय (या व्यय) से अधिक होगा । वह अगर संतुलित उत्पादन से अधिक तैयार करे तो उसकी सम्पूर्ण आय तो विक्री से मिलनेवाली आय के कारण जरूर बढ़ेगी, लेकिन उसकी सीमान्त आय घटेगी । इसलिये वह उस बिन्दु के पहले ही उत्पादन करना बन्द कर देगा जिसपर उसकी सीमांत आय शून्य या ऋणात्मक होनेवाली है, क्योंकि किसी भी दशा में उसका सीमांत व्यय शून्य या ऋणात्मक नहीं हो सकता, क्योंकि किसी भी अदद के तैयार करने में कच्चे माल और श्रम में कुछ-न-कुछ खर्च अवश्य लगता ही है । उसे माँग की लोच के ऊपर भी विचार करना

होगा । उसके द्वारा तय किया हुआ दाम सीमांत व्यय या सीमांत आय

और माँग की लोच के अंश $\left(\frac{\text{लोच का अंश}}{\text{लोच का अंश} - १} \right)$ के गुणफल के

बराबर होगा । वह साधारणतः ऐसी चीज तैयार करता है कि जिसका उत्पादन क्रमागत उत्पत्ति हास नियम द्वारा परिचालित होता है । इसलिये उसका ध्यान पूर्ति बढ़ाने में नहीं रहता, घटाने में रहता है, क्योंकि ऐसा करने से उसको लाभ हो सकता है । एकाधिकारी मनोनुकूल दाम नहीं वसूल सकता, क्योंकि इससे उसकी चीज की माँग घट जा सकती है, या प्रतिक्रिया में नये उत्पादक आ सकते हैं, उपभोक्ताओं के असंतोष से प्रभावित होकर सरकार उसके ऊपर विधेयात्मक और निषेधात्मक नियंत्रण लगा सकती है । कोई-कोई एकाधिकारी अपने देश में एक ही क्रोता से विभिन्न अदरों के लिये विभिन्न कीमतें या विभिन्न क्रोताओं से एक ही चीज के लिये विभिन्न कीमतें वसूलता है जिसे विवेचनकारी एकाधिकार (डिस्क्रीमिनेटिंग) कहते हैं । वह विदेश में एक ही चीज के लिये कम दाम और अपने देश में उसीके लिये अधिक दाम वसूल करता है जिसे राशिपातन (डम्पिंग) कहते हैं । जापान ने भारत के साथ कपड़े के मामले में ऐसा ही किया था ।

यों तो एकाधिकारगत मूल्य जो प्रतियोगितागत मूल्य हो सकता है उससे अधिक होता है, लेकिन कुछ हालतों में वह उससे कम भी हो सकता । जैसे—जब उत्पादन क्रमागत उत्पत्ति वृद्धि (व्यय हास) नियम द्वारा शासित होता है, क्योंकि एकाधिकारी की निपुणता प्रतियोगी उत्पादक से अधिक होती है, क्योंकि वह राशिपातन की नीति के अनुसार दाम अभी कम करके आगे रहीं-सहीं प्रतियोगिता को कुचलाने के बाद उसे बढ़ाना चाहता है, वह ऐसा अपने देश में कर सकता है या विदेश में, चाहे उसको संभाव्य प्रतियोगिता की

आशंका है और चाहे सरकार का उसके ऊपर कानूनन नियंत्रण है कि वह दाम को एक हद—सीलिंग—के बाद नहीं बढ़ा सकता ।

दाम, व्यय और उत्पादन में अन्तर्सम्बन्ध

(पूर्ण प्रतियोगिता और अपूर्ण प्रतियोगिता में)

पीछे कह आये हैं कि विनिमयगत मूल्य (भैल्यू) को जब हम मुद्रा के रूप में अभिव्यक्त करते हैं तब उसको दाम (प्राइस) कहते हैं । अतएव दोनों इस भाव में समानार्थक हैं । आजकल विनिमय-अनुपात (रेश्यू) के स्थान में मूल्य शब्द का ही व्यापक प्रयोग होता है । किसी दाम पर लोग किसी वस्तु के जिस परिमाण को मांगते हैं उसको 'मांग' और जिस परिमाण को बेचते हैं उसको 'पूर्ति' कहते हैं ।

पूर्ण प्रतियोगिता में क्रेता और विक्रेता बड़ी संख्या में रहते हैं । क्रेता कम से कम दाम पर खरीदने और विक्रेता अधिक से अधिक दाम पर बेचने की कोशिश करते हैं । प्रतियोगिता के लिए अखाड़ा (रिंग) साफ भी रहता है । वस्तु एक ही दाम पर मिलती है, क्योंकि क्रेता और विक्रेता एक दूसरे को जानते होते हैं (पूर्ण ज्ञान की सबसे बड़ी देन होता है एक दाम का प्रचलन) । दाम प्रत्येक क्रेता और विक्रेता के लिए पूर्व निश्चित रहता है अर्थात् कोई क्रेता अपनी मांग को घटा-बढ़ाकर या कोई विक्रेता अपनी पूर्ति को घटा-बढ़ाकर क्रमशः सम्पूर्ण माँग या पूर्ति को प्रभावित नहीं कर सकता ; वस्तु जो बाजार में मिलती है हर जगह स्वजातीय (होमोजेन्स) होती है अर्थात् प्रत्येक उत्पादक की वस्तु दूसरे उत्पादक की वस्तु की ठीक एवजी होती है । वस्तु का गुण समान रहता है । विक्रेता की पूर्ति पूर्ण लोचदार होती है । वह दाम को थोड़ा घटाकर सबसे पहले अपने माल को बेच सकता है, लेकिन जैसा कि अभी कहा गया यह क्षणिक

होगा और उससे सम्पूर्ण दाम पर प्रभाव नहीं पड़ेगा क्योंकि वह तो समूची पूर्ति का एक अति तुच्छ अंश तैयार करता है ; अगर वह अपने दाम को थोड़ा भी बढ़ा दे तो उससे कोई भी नहीं खरीदेगा और वह नष्ट हो जायगा, कहने का मतलब है कि पूर्ण प्रतियोगिता में मांग काफी लोचपूर्ण होती है ; उसे एक ही दाम पर हर क्रोता से और वस्तु की हर इकाई को बेचना पड़ता है । पूर्ण-प्रतियोगिता में “विक्रय व्यय” नहीं होता, जो कुछ भी विज्ञापन पर व्यय होता है वह रचनात्मक होता है और उसका उद्देश्य उपभोक्ताओं को अच्छी व अधिक कायदामंद वस्तु के बाजार में पदार्पण से अवगत कराना होता है; उत्पदन के साधनों में पूर्ण गतिशीलता और पूर्ण रोजी रहती है जिससे वे अपनी-अपनी सीमान्त उत्पादकता के अनुसार पारिश्रमिक पाते हैं । क्रोताओं और विक्रेताओं के बीच कोई पूर्ण समझौता नहीं रहता । दोनों दलों को चयन की पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है ।

पीछे हम यह भी बता आए हैं कि किस तरह पूर्ण प्रतियोगिता के तत्त्वाधान में दाम निश्चित होता है । उपभोक्ता किसी वस्तु (वस्तुओं) से जो सीमान्त उपयोगिता (सीमान्त उपयोगिताएँ) उपलब्ध करते हैं उसके ही बराबर दाम देने के लिए कृत-संकल्प होते हैं, क्योंकि किसी वस्तु की प्रत्येक इकाई के लिए एक ही दाम दिया जाता है और दाम सम्पूर्ण उपयोगिता से नहीं तय होता वरन् सीमान्त उपयोगिता से होता है । यह बताया जा चुका है कि उपभोक्ता सीमान्त इकाई (क्रय या उपभोग की) के लिए जो दाम देता है वही दाम पूर्ववर्ती इकाइयों के लिए भी देता है और इससे वह एक बचत उठाता है जिसे “उपभोक्ता की बचत” कहते हैं ।

हमने वहां केवल उन्हीं चीजों का विवेचन किया है जिनका पुनरोत्पादन हो सकता है अर्थात् जिनकी पूर्ति बढ़ाई जा सकती है । लेकिन कभी-कभी कुछ ऐसी अभावपूर्ण वस्तुएँ (जैसे टैगोर

या गांवी जी की लेखनी, आदि) होती हैं जिनकी संख्या सीमित होती है और जिसको बढ़ाया नहीं जा सकता। ऐसी चीजों का दाम तो “अभाव-मूल्य” (स्कारसिटी मैल्यू) के द्वारा परिचालित होगा। अगर क्रेताओं की सीमान्त उपयोगिताएँ अधिक हैं (क्योंकि उनकी संख्या अधिक है) तब वे अधिकतम सीमान्त उपयोगिता पर बिकेगी और अधिकतम दाम भी मिलेगा। ऐसे दाम को “अमीराना दाम” (फैन्सीफुल प्राइस) कह सकते हैं। अगर उनकी मांग कम है तो सीमान्त उपयोगिता के कम रहने पर उनका दाम भी कम मिलेगा। अतएव जब वे बिकने आयेगी तब केवल मांग-शक्ति उनका दाम तय करेगी। ऐसी चीजों में चूँकि टिकाउपन रहता है, इसलिए उन्हें संग्रहीत करके रखा भी जा सकता है जिससे कि जब अधिक दाम मिले तो बेचा जा सके।

जैसा कि हम देख चुके हैं बाजार में जो संतुलन कायम होता है उसमें मांग, पूर्ति और दाम में घना सम्बन्ध होता है। वह इस तरह से समझाया जा सकता है—तीनों परस्पर अन्तर्सम्बन्धित होते हैं। मांग दाम पर और पूर्ति भी दाम पर निर्भर रहती है तथा दाम भी मांग एवं पूर्ति के बीच के सम्बन्ध या लगाव द्वारा निश्चित होता है। दाम मानों मांग तथा पूर्ति की जगह बदलनेवाली रेतों (शिफ्टिंग सैन्ड्स) का अनुगमन करता है और मांग तथा पूर्ति भी बदलने में दाम का अनुसरण करती हैं। दाम केवल “थर्मामेटर” का ही काम नहीं करता प्रत्युत् वह “थर्मोस्टैट” का भी काम करता है। थर्मामेटर की तरह वह अपने लगाव में मांग एवं पूर्ति के परिवर्तनों को बतलाता है और थर्मोस्टैट की तरह वह मांग और पूर्ति के अनुसार अपने परिवर्तित होता है !

उत्पादन के साधन भी अर्थिक वस्तुएँ हैं और उनके भी दो प्रमुख लक्षण हैं—उनका अभाव (उनकी मांग के बराबर उनकी

पूर्ति नहीं) और उनका वैकल्पिक उपयोग । अतएव उत्पादनकर्ता भी “चयन के नियम” के अनुसार उनका उपयोग करते हैं । समाज की स्थिति के आधार दो हैं—श्रम-विभाजन और सहयोग-प्रधान उत्पादन । पीछे हम आर्थिक प्रणाली के अवलोकन के जो दो दृष्टिकोण (या दो जोड़ा चश्मा, हर दृष्टिकोण के लिए अलग निराला जोड़ा । वर्तमान आर्थिक प्रणाली की धूप-छाँह, गंगा-जमुनी को देखने के लिए दो तरह का चश्मा चाहिए भी—धूप के लिए अलग !, छाँह के लिए अलग !!) बता आये हैं वे भी अनुरूप ही हैं । श्रम-विभाजन के जरिए उत्पादक सहयोग करके उपभोक्ताओं की इच्छाओं को संतुष्ट करते हैं । पारस्परिक विनिमयों के माध्यम से उपभोक्ता और उत्पादक सभी उत्पादन की क्रिया में शरीक हो जाते हैं, उत्पादन के साधनों के स्वामी भी उन्हें उत्पादकों को सूद वा लगान पर उधार देकर उससे वस्तुओं और सेवाओं की मांग करते हैं । वे भी उपभोक्ता हैं । उत्पादन के साधनों के दाम भी उनकी मांग और पूर्ति के द्वारा निश्चित होते हैं । हम अभी बतलायेंगे कि उत्पादन के प्रत्येक साधन के लक्षण क्या हैं, विशेषताएँ क्या हैं ? हम आगे चलकर विशद रूप में उत्पादन के साधनों के मूल्यकरण के ऊपर विचार करेंगे ।

पीछे हम बतला आये हैं कि किस तरह दीर्घकालीन सामान्य मूल्य दाम और व्यय के समान होने पर उत्पन्न होता है (मांग और पूर्ति तो समान होती हैं) । लेकिन यह पूछा जा सकता है कि क्या व्यय दाम को निर्धारित करता है या नहीं ? हमारा उत्तर यही होगा कि दाम और व्यय एक-दूसरे पर निर्भर करते और समान होने की प्रवृत्ति रखते हैं । दाम तो व्यय का ऊपरी छोर होता है, लेकिन व्यय दाम का निचला छोर नहीं होता ! जब व्यय दाम से कम होता है तब उत्पादन बढ़ता है और दाम घटने लगता है । जब व्यय दाम से अधिक होता है तब उत्पादन कम होता है और दाम बढ़ने लगता है !

कुछ लोग व्यय से वास्तविक व्यय समझते हैं और दूसरे उससे सामयिक व्यय। इस विषय के बारे में भी हम पीछे लिख चुके हैं और अपना मत दे आये हैं।

पूर्ण प्रतियोगितावाले बाजार में किसी वस्तु की जो मांग होती है उसकी सम्पूर्ण पूर्ति भी होनी चाहिए। सम्पूर्ण पूर्ति उसी समय होगी जब दाम ऐसा रहे कि सबसे कमजोर उत्पादक को भी पूर्ति करने में प्रेरणा मिले। अगर दाम ऐसा है कि वह उसपर पूर्ति नहीं कर सकता तो समूची पूर्ति समूची मांग के बराबर कैसे होगी? अतएव यह कहा जा सकता है कि किसी समय किसी वस्तु का बाजार में जो दाम रहता है वह सबसे अधिक उत्पादन-व्यय के बराबर होता है। पूर्ण प्रतियोगिता के बाजार में (जिसे हम संक्षेप में “पूर्ण बाजार” संज्ञा दे आये हैं) केवल उसी उत्पादक के पूर्ति करने से सम्पूर्ण मांग को पूरा नहीं किया जा सकता जिसका उत्पादन-व्यय सबसे कम है। यही तो पूर्ण प्रतियोगिता का पहला लक्षण ही है। सबसे समर्थ उत्पादक भी समूची पूर्ति का केवल एक अंश ही उत्पन्न करता है। अतएव किसी समय की सम्पूर्ण मांग को पूरा करने के लिए जो दाम होगा वह सीमान्त उत्पादक के सीमान्त व्यय के बराबर होगा। सीमान्त उत्पादक वह है जो उस हालत में उत्पादन करना बन्द करेगा जब बाजार-दाम उसके सीमान्त व्यय (तदर्थ औसत व्यय के भी) के बराबर नहीं हैं। सीमान्त व्यय को हम बता आये हैं कि वह वर्तमान पूर्ति से एक इकाई अधिक तैयार करने में जो व्यय पड़ता है वही है। जब दाम घटने लगता है तब सीमान्त उत्पादक पूर्ति करना बन्द कर देता है (देते हैं जब एक से अधिक उत्पादक सीमान्त उत्पादक होंगे)। जो सीमान्तोपरि उत्पादक हैं वे ही उत्पादन करेंगे, लेकिन उनके बीच भी एक ऐसा उत्पादन-व्यय सबसे अधिक होगा और वही उस समय भी सीमान्त उत्पादक कहा जायगा। उसके उत्पादन-व्यय के बराबर दाम होगा।

एक बिन्दु के बाद दाम का घटना बन्द हो जायगा और वह व्यय के बराबर हो जायगा। किसी चीज का उत्पादन-व्यय अप्रत्यक्ष रूप से उसके उत्पादन (अर्थात् पूर्ति) को प्रभावित कर उसके दाम को प्रभावित करता है। अतएव सीमान्त उत्पादक की धारणा से अपना पिंड छुड़ाना कठिन है ! जब दाम बढ़ने लगेंगे तो कुछ नये उत्पादक भी व्यवसाय में आवेंगे। सीमान्त उत्पादक से भी वे गए-गुजरे हैं, लेकिन वे बड़े दाम पर उत्पादन कर सकते हैं। एक बिन्दु के बाद दाम का बढ़ना बन्द हो जायगा और वह व्यय के बराबर हो जायगा। वही बिन्दु “संतुलन”—इक्विलिब्रियम—का सूचक होता है। अर्थशास्त्र में संतुलन का संकेत उस स्थिति से है जिसको प्राप्त करने पर उपभोक्ता या उत्पादक अपने साधनों को अन्य ढंग से विभाजित करना नहीं चाहता। उसमें “परिवर्तन नहीं” की नीति ही सबसे अधिक लाभदायक होती है।

पूर्ण प्रतियोगिता में प्रत्येक उत्पादक अपनी पूर्ति को उस समय तक बढ़ाता जायगा जब तक कि एक अधिक इकाई को तैयार कर बेचने पर जो आय होती है (जिसे सीमान्त आय—मार्जिनल रेवेन्यू—कहते हैं) वह उसको तैयार करने में जो अधिक व्यय (सम्पूर्ण व्यय से अधिक) पड़ता है (जिसे सीमान्त व्यय कहते हैं) उसके बराबर हो। अगर सीमान्त आय सीमान्त व्यय से अधिक है तो उत्पादन बढ़ाया जायगा, अगर कम है तो उत्पादन घटाया जायगा। बढ़ाने-घटाने का यह क्रम तब तक चलेगा जब तक कि सीमान्त आय और सीमान्त व्यय बराबर नहीं हो जायँ। जिस बिन्दु पर वे बराबर नहीं होते हैं, वहाँ उत्पादक को सबसे अधिक खालिस लाभ (जो विद्यमान अवस्था में संभव है) मिलता है और वहीं पर वह संतुलित अवस्था में रहता है। लेकिन उसको सर्वाधिक लाभ उसी समय होगा जब वह उत्पादन के औसत व्यय (अर्थात् सम्पूर्ण-उत्पादन व्यय में उत्पादन की संख्या से भाग देने पर जो व्यय निकले)

को न्यूनतम बना लेता है। वह अपने उत्पादन को बढ़ाता जायगा जबतक कि औसत व्यय न्यूनतम नहीं हो जाता। जब वह देखेगा कि उत्पादन बढ़ाने से उत्पादन का औसत व्यय बढ़ेगा तब वह उत्पादन नहीं बढ़ावेगा। अतएव उत्पादन बढ़ाना वह उसी बिन्दु पर बन्द कर देगा जिसपर एक अधिक इकाई तैयार करने का सीमान्त व्यय उत्पादन के औसत व्यय से न अधिक न कम है अर्थात् समान है। दूसरे शब्दों में, उसका उत्पादन उस बिन्दु पर संतुलित होगा जहाँ सीमान्त व्यय और औसत व्यय दोनों बराबर हैं। हम अभी कह आये हैं कि पूर्ण प्रतियोगिता में दाम सीमान्त व्यय के बराबर होता है। यहाँ हम देखते हैं कि सीमान्त व्यय औसत व्यय के बराबर होता है। इसलिए दाम एकत्रारणी सीमान्त व्यय और औसत दोनों के बराबर होगा। जब ऐसी स्थिति होगी तब केवल वह उत्पादक (या फर्म) ही संतुलित अवस्था में नहीं होगा बल्कि सभी उत्पादक (या समूचा उद्योग) भी संतुलित अवस्था में होंगे। यह इसलिए कि बाजार में चीज जिस दाम पर बिकती है वह औसत व्यय के बराबर होता है। जहाँ चीज की पूर्ति सीमान्त व्यय के द्वारा प्रभावित होती है वहाँ उसकी बिक्री औसत व्यय (प्रचलित दाम) के द्वारा। अगर सीमान्त व्यय औसत व्यय से ज्यादा है तो कुछ उत्पादकों को (सीमान्त उत्पादक को छोड़कर) असामान्य लाभ होगा और उसके आकर्षण से नए उत्पादकों का पदार्पण होगा। ये पूर्ति को बढ़ा देंगे और दाम कम हो जायगा। इससे सीमान्त व्यय कम हो जायगा और औसत व्यय के बराबर हो जायगा। अगर सीमान्त व्यय औसत व्यय से कम है तो सीमान्त उत्पादक पूर्ति करना छोड़ देगा (या देंगे) जिससे पूर्ति कम हो जायगी और इससे दाम अधिक हो जायगा। फिर इससे सीमान्त व्यय बढ़ जायगा और औसत व्यय के बराबर हो जायगा। पूर्ण प्रतियोगिता में नए उत्पादकों के पदार्पण पर प्रतिरोध नहीं रहता। उनका आगमन मुक्त रहता है।

यह तो पूर्ण प्रतियोगिता की चर्चा हुई। अब अपूर्ण प्रतियोगिता में दाम, व्यय और उत्पादन में जो संबंध रहता है उसके ऊपर विचार कीजिये। सच पूछिये तो आधुनिक आर्थिक प्रणाली में न तो पूर्ण प्रतियोगिता ही है और न विशुद्ध एकाधिकार ही, इसका रंग न सफेद है, न काला। यह अपूर्ण प्रतियोगिता द्वारा परिचालित है। यह सफेद व काला रंगों (पोलका) का सम्मिश्रण है ! अपूर्ण प्रतियोगिता में थोड़े विक्रेता और अधिक क्रोता रहते हैं। विक्रेता पूर्ति और दाम को प्रभावित कर सकता है। वह उत्पादन तो उसी समय बढ़ायगा जब कि एक इकाई अधिक तैयार करने का सीमान्त व्यय सीमान्त आय से कम या बराबर हो। लेकिन दाम सीमान्त व्यय या सीमान्त आय के बराबर अपूर्ण प्रतियोगिता में नहीं होगा। दाम हर हालत में सीमान्त व्यय या सीमान्त आय से अधिक होगा। प्रत्येक विक्रेता सम्पूर्ण पूर्ति के एक बड़े भाग का उत्पादन करता है। बाजार में अपूर्णताएँ (इम्परफेक्शन्स) रहती हैं। इनके उदाहरण हैं— यातायात-खर्च, पूर्ण ज्ञान का अभाव, विक्रेता-विक्रेता के द्वारा बेची चीजों में अनुरूपता नहीं होकर भिन्नता रहती है, भले ही वह भिन्नता वास्तविक हो या काल्पनिक। प्रत्येक विक्रेता इस बात की कोशिश में रहता है कि अपने विक्रय-परिणाम को बढ़ावे। वह अपनी विक्री को या तो दाम घटाकर या विक्रय-व्यय बढ़ाकर ही बढ़ा सकता है। उसकी चीज का उत्पादन-व्यय (जो उसको तैयार करने में पड़ता है) कभी-कभी विक्रय-व्यय (जो उस चीज को बेचने में लगता है) से कम भी हो जा सकता है। विज्ञापनबाजी और विक्रय-बाजी के जरिए एक उत्पादक दूसरे उत्पादक से उसके ग्राहकों को छीनता है और ऐसा कर अधिक उत्पादन कर अधिक लाभ उठता है। वह “दर्पण की लाल रानी” की तरह विक्रयबाजी के क्षेत्र में बेतहास दौड़ता जाता है। इस तरह से हर उत्पादक ग्राहकों को अपना भक्त बनाना चाहता है। लेबुल, ब्रैन्ड, आदि बदलकर, वह चीज के गुण को ज्यों का त्यों

रखकर, उस चीज को दूसरी अनोखी चीज कहकर, ग्राहकों के हाथों बेचेगा। बेचेगा क्या ठगेगा ! देगा डालडा लेकिन ग्राहक को चुनौती देगा कि अगर वह साबित कर दे कि वह विशुद्ध घी नहीं तो उतना हारेगा, नहीं तो उसे उतना हारना पड़ेगा ! ग्राहक का स्वाद ही भ्रष्ट नहीं हुआ है, उसका मनोविज्ञान भी बदल गया है। वह चुनचाप विशुद्ध घी की जगह डालडा मोल लेकर खाता जाता है। क्या मजाल कि जरा भी चू-चप्पड़ कर, जीभ हिलावे ? खुदरा-विक्रेता भी अपूर्ण विक्रेता हैं और वे वातायन-शृंगार, (विन्डो-ड्रेसिंग) के जरिये अपने ग्राहकों को अपने चंगुल में किये रहते हैं। पूर्ण प्रतियोगिता में मांग की लोच बहुत होती है, एकाधिकार में वह इकाई के बराबर होती है और अपूर्ण प्रतियोगिता में वह इन दोनों के बीच में कहीं होगी। (देखिये पृष्ठ ६२ पर) कहने का मतलब यह कि जहाँ पूर्ण प्रतियोगिता का उत्पादक दाम को थोड़ा भी बढ़ाकर (थोड़ा घटा कर) कुछ भी नहीं बेच सकता या नष्ट हो जायगा (दूसरी अवस्था में सभी क्रेताओं को आकृष्ट कर सकता है) (एकाधिकारी दाम को थोड़ा बढ़ाकर भी नष्ट नहीं हो सकता, क्योंकि उसकी वस्तु के लिये लोगों की मांग लोचहीन है और दाम को घटाने से उसको कोई लाभ ही नहीं, क्योंकि लगभग सभी उसीसे चालू दाम पर खरीदते होते हैं, वहाँ अपूर्ण प्रतियोगिता का उत्पादक दाम को थोड़ा बढ़ाकर भी पूर्ण प्रतियोगिता के उत्पादक की तरह अपनी विक्री को एकदम बन्द हुआ नहीं पा सकता, लेकिन थोड़ा-थोड़ा बन्द (या कम) अवश्य पायगा, क्योंकि बाजार में उसके प्रतिद्वन्द्वी या प्रतियोगी कुछ (थोड़े) और उत्पादक हैं जो उसके दाम बढ़ाने पर उसके कुछ ग्राहकों को अपनी ओर आकृष्ट कर लेंगे। अतएव अपूर्ण प्रतियोगिता के उत्पादक को अपने प्रतियोगी उत्पादकों की प्रतियोगिता का कुछ भय अवश्य रहता है। उसके ग्राहकों की भक्ति उसके प्रति जितना अधिक होगी उतना ही अधिक दाम वह उनसे ले सकेगा। आम तौर से यह कहा जा

सकता है कि अपूर्ण प्रतियोगिता में किसी चीज का दाम अधिक और उसका उत्पादन कम होगा, लेकिन पूर्ण प्रतियोगिता की अवस्था में उसी चीज का दाम कम और उत्पादन अधिक होगा । लेकिन हमें भूलना नहीं होगा कि अपूर्ण प्रतियोगिता के उत्पादक को भी संभावित प्रतियोगिता, उपभोक्ताओं के सामूहिक विरोध, सरकारी हस्तक्षेप, विदेशी उत्पादकों की प्रतियोगिता, आदि की आशंका रहती है जिससे वे काफी अनाचार नहीं करने पाते ।

उत्पादन के साधन

कई अर्थशास्त्री कहते हैं कि उत्पादन के साधन चार हैं—भूमि, श्रम, पूँजी और संगठन । कोई-कोई एक पाँचवा साधन भी प्रेरणा या साहस के नाम का जोड़ने से बाज नहीं आते । कुछ लोग दो ही साधन मानते हैं—चाहे श्रम और पूँजी अथवा श्रम और भूमि । कुछ लोग तीन साधन मानते हैं—भूमि, श्रम और पूँजी । पुराने अर्थशास्त्री प्रकृति और मानव को ही धनोत्पादन का साधन मानते थे । इस तरह भूमि और श्रम ही दो साधन हुए । उनका तर्क था कि श्रम दैहिक और मानसिक दोनों प्रकार का होता है । मानसिक श्रम को आप संगठन कह सकते हैं । पूँजी तो भूमि पर श्रम के काम करने से उत्पन्न होती है । वह भूमि और श्रम की तरह प्राकृतिक या मौलिक साधन नहीं है । हम अभी बतलायेंगे कि भूमि का कितना व्यापक अर्थ उनके साथ था । जो लोग कहते हैं कि श्रम और पूँजी ही दो साधन हैं उनका तर्क है कि भूमि तो स्थिर पूँजी होने के कारण पूँजी का ही एक रूप है । जो लोग कहते हैं कि तीन साधन हैं—भूमि, श्रम और पूँजी—वे भूमि और पूँजी को अनुरूप नहीं मानते या वे पूँजी को भूमि और श्रम के जो मौलिक साधन हैं उनको संयुक्त उपज नहीं मानते और वे पूँजी को प्रसूत साधन नहीं

कहते । आगे हम इन दोनों स्कूलों के तर्कों के ऊपर विशद रूप से लिखेंगे । अभी एक अन्य विवाद को मुलभूत लेना है । जो कहते हैं कि चार साधन हैं वे उपर्युक्त तीन के अलावे संगठन को जोड़ देते हैं । वे कहते हैं कि संगठन विशुद्ध श्रम नहीं है । वह एक विलग साधन है जो तीनों साधनों को एकत्र करके उत्पादन करता है । इसमें अनि-श्चितता-बहन और आपत्ति-बहन करने की क्षमता सम्मिलित रहती है, इसमें संचालन करने की सामर्थ्य का भाव अंतर्हित रहता है । प्रेरणा या साहस वाले केवल बाल की खाल नोचने वाले हैं, और कुछ नहीं ! वस्तुतः प्रेरणा या साहस संगठन के अन्तर्गत ही आ जाता है ।

—भूमि—

भूमि का अर्थ केवल मिट्टी ही नहीं या मिट्टी की निधि ही नहीं, बल्कि भूमि में वे सारी चीजें आती हैं जो प्रकृति के द्वारा मानवता को प्रदान की जाती हैं—नदी, तालाब, वर्षा, शीत, धूप, जंगल, खान, मछलीगाह, चारागाह, नगर-भूमि, भरना, आदि । भूमि टिकाऊ-प्रयोग की वस्तुओं की श्रेणी में आती है । इसीलिए कुछ लोग भूमि को पूँजी के परिवार का एक सदस्य मानते हैं । इसकी पूर्ति को बढ़ाया नहीं जा सकता । यह इस मानी में है कि मिट्टी का जो कोष हमें प्रकृति द्वारा मिला है उसकी पूर्ति को हम नहीं बढ़ा सकते । लेकिन मिट्टी के गुण को हम बढ़ा सकते हैं । मिट्टी की शक्ति, उसकी उर्वरता मौलिक तो है, लेकिन अनश्वर नहीं क्योंकि उसका हास होता है लेकिन थोड़ी मिहनत करने के (अच्छी खाद, बीज और सिंचाई करने से) वह पहले-जैसी हो जा सकती है । मनुष्य ने मिट्टी में काफी योगदान किया है । उसने सिन्ध-जैसी मरुभूमि को चमन बना डाला है । भूमि में घिसावट नहीं होती । जितनी थी उतनी ही है । लेकिन

बाढ़ में कभी जमीन कट जाती है ! इसका उत्तर है कि जमीन तो वहाँ है ही । वह जल के अन्दर है । भूमि की पूर्ति समुद्र भरकर नहीं बढ़ाई जाती । अगर कहीं बढ़ाई भी गई है तो हम कह सकते हैं कि भूमि तो वहाँ थी ही, क्योंकि भूमि में तो जल वा समुद्र भी शामिल है । या भूमि की पूर्ति का विस्तार बढ़ाया कैसे गया ? जो चीजें लगाई गईं वे सभी भूमि से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से लेकर ही तो ! भूमि की शक्ति खानों में नष्ट होती है ! मछलीगाहों में नष्ट होती हैं, पर फिर पनप जाती है !! भूमि समदर्शी है, क्योंकि वह अन-पूर्ण देवी जो है ! भूमि अभावपूर्ण है, परंतु उसके बहुविध उपयोग हो सकते हैं !

—श्रम—

श्रम का अर्थशास्त्र में मानी दैहिक तथा मानसिक श्रम से है । आर्थिक श्रम का कोई उद्देश्य होता है, चाहे वह वर्तमान या भावी आवश्यकताओं की संतुष्टि के लिए हो । यह विनिमयगत होने के कारण मुद्रा या मूल्य या दाम के रूप में प्रकाश्य होता है । आज की पूँजीवादी दुनिया में श्रम-शक्ति एक सौदा बन गई है, भले ही श्रमिक सौदा न हो । श्रम उत्पादन का साधन तो है, लेकिन वह उसका साध्य भी है । श्रम श्रमिक से अविच्छेद्य है । लेकिन श्रमिक गतिशील प्राणी या वस्तु है, भले ही उसकी गतिशीलता का अंश विभिन्न हो, श्रम एक नष्टप्राय चीज है । एक मिनट का बेकार श्रम सर्वदा के लिये बेकार जाता है । श्रमिक की शक्ति सुकुमार होती है । उसमें विक्रय-शक्ति का अभाव रहता है, क्योंकि वह पूँजीहीन है और अपने श्रम को संग्रहीत करके नहीं रख सकता । लेकिन श्रम स्वतंत्र इच्छा का भी पुतला है, भले ही वह किसी के आधिपत्य में काम करे । उससे आदमी प्यार से काम ले सकता है, कोड़ा से नहीं । श्रम की

पूर्ति अभावपूर्ण किसी समय रहती है, लेकिन वह विकासवान् है। वह संप्राप्त है। उसकी आयु होती है। उम्र के बढ़ने के साथ श्रम-शक्ति एक शीर्ष या चरम पर पहुँच जाती है और उसके बाद उसका हास आरंभ होता है। श्रम आज कारखाने में काम करता है। उसे कार्य-संबंधी नियमावली का पालन करना पड़ता है जिसके उल्लंघन करने से उसे जुर्माना देना पड़ता है। उसकी प्रेरणा को बढ़ाने के लिए बोनस और वरिष्ठता का भी प्रबन्ध है।

—पूँजी—

श्रम पूँजी के अभाव में कम निपुण और पूँजी श्रम के संयोग के बिना मृत-प्राय है। पूँजी का तात्पर्य टिकाऊ-प्रयोग की उत्पादक-वस्तुओं से है जो स्थिर पूँजी कही जाती हैं। जैसे—मकान, घर-द्वार, मशीनें, औजार, यातायात और आवागमन के साधन। पूँजी को जायदाद भी कह सकते हैं। यह मनुष्य की सृष्टि होती है। इसमें आनेवाली चीजें स्थिर होती हैं, लेकिन स्थिरता का अर्थ गतिहीनता नहीं है। स्थिरता को यहाँ समय की दृष्टि से, न कि स्थान की दृष्टि से, रखा गया है। ये चीजें बहुत दिनों तक चलती हैं, यद्यपि उनका एक दिन अन्त होता है। इनकी पूर्ति को बढ़ाया जा सकता है। वे घिसती हैं। पूँजी में आनेवाली चीजें वर्तमान में मौजूद रहती हैं और (वर्तमान और) भावी (दोनों प्रकार के) उत्पादन को चलाती हैं। पूँजी से आमदनी होती है। आमदनी की एक शृंखला चल पड़ सकती है। पीछे हम इसकी तुलना उस जादूभरी मीठी रोटी से कर आये हैं जिसको (अर्थात् जिसकी आय या कमाई) उसका स्वामी खाता भी है और सँजोकर रखता भी है। अतएव पूँजी की उपमा एक भील से, न कि तालाब से, दी जा सकती है। पूँजी प्रवाह है। यह किसी समय पर विद्यमान सम्पत्ति या धन है। पूँजी न संग्रहीत श्रम है,

न चुराया हुआ श्रम ही। पूँजी प्रतीक्षा का फल है। वह बचत या संचय का फल है। पूँजी को व्यवसाय में लाकर कोई होशियार आदमी उसको बचाये भी रख सकता है और उसकी आय से अपना जीवन-निर्वाह भी कर सकता है। कोई मूर्ख आदमी किसी व्यवसाय में अपनी पूँजी नहीं लगाकर, उसको बेच-चोट कर, खा-पीकर छुट्टी कर सकता है। पूँजी के जरिए जो उत्पादन होता है वह अप्रत्यक्ष और चक्रदार होता है। आज का उत्पादन पूँजी—प्रधान उत्पादन है और यह पंखे की तरह है। जितना खोलिएगा, फैलाइएगा उतनी ही हवा आपको मिलेगी। आधुनिक औद्योगिक समाज की काया ही प्रचुर पूँजी की बनी है। पुराने समाज में पूँजी का सर्वथा अभाव था। कहा जाता है कि एक बार एक पुरातत्ववेत्ता किसी गाँव से होकर जा रहा था। उसको गाँववाले बड़े दुःखी और निराश जान पड़े। चारो ओर मातम छाया हुआ था। उसने उनसे पूछा कि क्या कोई मर गया है? उसको उत्तर मिला कि नहीं, कोई मरा तो नहीं है। ‘मृत्यु क्या चीज है? भाई! हमलोगों की सूई खो गई है। इसीलिये हमलोग इतना मातम मना रहे हैं। न जाने अब कैसे हमलोगों का काम चलेगा?’

पूँजी से वृहत पैमाने पर उत्पादन होता है और उससे बहुत-से लाभ होते हैं। चीजें सस्ती दाम पर मिलती हैं, क्योंकि उत्पादन-व्यय मशीन द्वारा उत्पादन करने पर कम बैठता है। एक वर्ष में पूरे होने-वाले उत्पादन-कार्य को करने के पहले लोग जीवन-निर्वाह के “साधनों की पूर्ति” को पूँजी के जरिये ही प्राप्त करते हैं। उनकी, कम पूर्ति होने से वर्षभर काम ठीक तरह से नहीं चल सकता। इससे एक ओर चीज के उत्पादन का ताँता लगा रहता है तो दूसरी ओर मजदूरों को चीज के तैयार होने और विकने के पहले ही वेतन मिल जाता है। उनको “जीवन-निर्वाह” के साधन उपलब्ध होते हैं। चीजों की

अच्छी यातायात होती है। पूँजी का जितना ही अतिशय उपभोग होगा उत्पादन की क्रिया उतनी ही अधिक चक्करदार होगी अर्थात् प्रथम कोटि की उपभोक्ता-वस्तुओं को तैयार करने के पहले उत्पादक-वस्तुओं को तैयार करना होगा और तब उनसे उनको तैयार करना होगा। इसमें काफी समय लगेगा।

पूँजी के कई भेद होते हैं—स्थिर पूँजी (जिसका उदाहरण ऊपर दे आये हैं), प्रवहनशील या कार्यरत अर्थात् एक-प्रयोग या स्वतंत्र पूँजी : जैसे, कच्चे माल, लघुकालीन लिये उधार ऋण, स्टॉक या रिजर्व स्टॉक अर्थात् क्रियारत चीजें जो एक अवस्था से उत्पादन की दूसरी अवस्था में जाती हैं), तैराक पूँजी (स्टॉक और शेयर) और ऋण-परिशोध (सिंकिङ्ग, पूँजी (रेलवे कम्पनियों द्वारा चिरकाल के लिये लगाई पूँजी))।

पूँजी का विकास या संग्रह दो वर्गों के कारणों या दशाओं पर निर्भर करता है—व्यक्तिनिष्ठ और पदार्थनिष्ठ। व्यक्तिनिष्ठ कारणों का सम्बन्ध संग्रह करने की इच्छा से और पदार्थनिष्ठ कारणों का सरोकार संग्रह करने की शक्ति से है। व्यक्तिनिष्ठ कारणों में—दूर-दर्शिता, स्नेह-प्रेम, उदारता, गर्व या अभिमान, अनुगणन, निवारण, विकास, स्वतंत्रता, कृपणता, आदि—प्रवृत्तियाँ आती हैं। पदार्थनिष्ठ कारणों में ये अवस्थाएँ आती हैं—वृद्धि का होना, निरापदता और निश्चयता, संग्रह के साधन, व्यावसायिक कम्पनियों और पूँजी-विनियोग के अन्य स्रोतों का रहना, सरकारी नीति, सूद की दर और सामाजिक रीति-नीतियाँ। सूद की दर के अधिक होने पर लोग आमतौर से अधिक और उसके कम होने पर अधिक बचत करते हैं, लेकिन जब किसी आदमी को अमुक रकम जमा करनी रहती है तब तो सूद की दर के अधिक (कम) रहने पर उसे कम (अधिक) ही रकम जमा करना पड़ता है।

एक-प्रयोग अर्थात् स्वतंत्र पूँजी का निर्माण बचत या संग्रह की क्रिया में होता है। बचत को हम आय के कुछ भागों का गैर-उपभोग (नन-कनजम्पशन) कह सकते हैं। इस परिभाषा से तो यही मालूम होता है कि इस तरह की बचत से पूँजी की सृष्टि नहीं हो सकती है। अतएव एक अन्य आर्थिक कार्य की आवश्यकता है। इसको कहते हैं विनियोग (इनवेस्टमेन्ट)। इसके द्वारा बचाई आय को उत्पादन क्रिया में प्रवृत्त किया जाता है, उससे चक्रदार उत्पादन को मानों खिलाया जाता है ! चूँकि हमारे यहाँ विनिमय मुद्रा से चलता है इसलिये विनियोग का उद्देश्य अप्रत्यक्ष उत्पादन का खर्च-बर्च (फिनान्स) चलाना है। मशीनगत उत्पादन के लिये तो पुनर्निर्माण (रि-क्रिएटिव) पूँजी-संग्रह तथा पूँजी-विनियोग की आवश्यकता होती है। उन्हें भी चक्रदार होना पड़ता है।

क्या भूमि पूँजी है ?

जो विधेयात्मक उत्तर देते हैं वे कहते हैं कि भूमि इसलिए पूँजी है कि वह पूँजी की भाँति नाशवान है (पीछे हम इसको समझा आये हैं), पूँजी भी प्रकृति की ही देन है (भ्रम भूमि पर काम करके पूँजी अर्जित करता है), उसकी भी पूर्ति एक अवधि तक सीमित रहती है, दोनों बचत देती हैं। दोनों का ही राष्ट्रीयकरण हो सकता है। जो नकारात्मक उत्तर देते हैं वे कहते हैं कि भूमि इसलिए पूँजी नहीं है कि जहाँ भूमि मौलिक साधन है वहाँ पूँजी प्रसूत साधन, मानव-कृत। भूमि की शक्ति अक्षय है, पूँजी का नाश होता है। पहले की पूर्ति सीमित है, दूसरे की परिवर्त्य। लगान स्थिर है, सूद अनिश्चित। भूमि का मूल्य आबादी की वृद्धि के साथ बढ़ रहा है, पूँजी का मूल्य घट रहा है। भूमि और पूँजी को संचालित करनेवाले नियम असमान हैं। इतना ही नहीं, दोनों के

अधिपतियों के वर्ग पृथक हैं और उनके स्वार्थ भी भिन्न हैं। हमारा मत है कि जबतक समाजवाद स्थापित नहीं होता तब तक पूँजी और भूमि दोनों पृथक-पृथक उत्पादन-साधन माने जायेंगे।

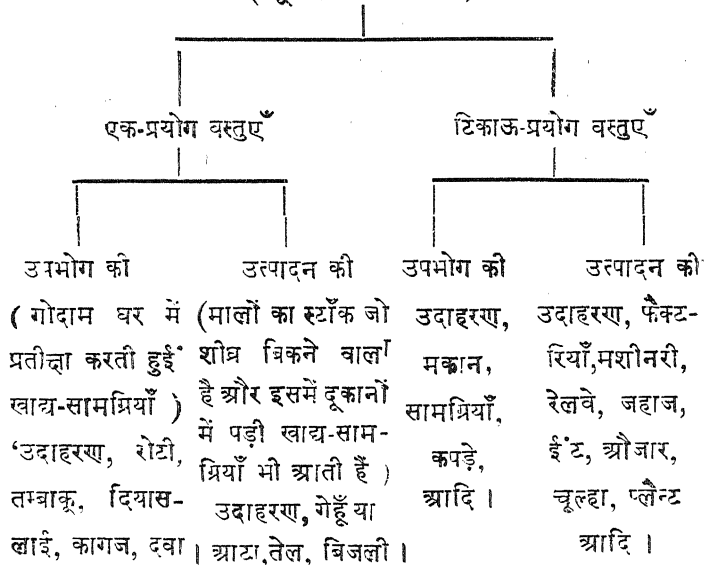
संगठन

उद्योग की आद्यन्त देखभाल करने और उत्पादन के अन्य तीन साधनों को काम में जुटा कर उनको लगान, मजदूरी और सूद देने का दायित्व संगठन का है। संगठनकर्त्ता इनको देने के बाद जो बचता है उसको स्वयं लेता है। उसके हिस्सा या पारिश्रमिक हो हम मुनाफा कहते हैं। चूँकि आज उत्पादन का सिलसिला बड़ा ही पेचीदा और उलझित हो गया है और चूँकि उत्पादन के तीन साधनों को अपनी-अपनी फिक्र होती है, इसलिए वे उत्पादन का कार्य नहीं सम्भाल सकते और इसके लिए संगठनकर्त्ता के संगठन की आवश्यकता है। इसीलिए संगठन को उत्पादन का एक पृथक और स्वतन्त्र साधन मानना उचित है।

एक वर्ष की परिभाषा

जब हम कहते हैं कि एक वर्ष तब अर्थशास्त्र में उसका अर्थ क्या वही होता है जो आम बोलचाल में होता है? उत्तर है, करीब-करीब वही। एक वर्ष का मानी यों तो यह होगा—१ली जनवरी (जो ३१ दिसम्बर की आधी रात के बाद शुरू होती है) से लेकर ३१ दिसम्बर (की आधी रात) तक के बीच जो ३६५ और ३६६ दिन आते हैं उनका ही अभ्यान्तर। इतनी अवधि में पृथ्वी सूर्य के चारों ओर एक बार परिक्रमा कर लेती है। लेकिन उत्पादन की क्रिया तो अनादि है, अनित्य है, मगर उसको समाप्ति प्रति दिन होती है

प्रारंभिक साधन (पूँजी या सम्पत्ति)



दूसरी अवस्था या दर्जा — १९५२ वर्ष के भीतर (पहली जनवरी से ३१ दिसम्बर तक)—देश के पास उत्पादन के साधन हैं । उनमें श्रम है जो प्रारंभिक साधन अर्थात् पूँजी या सम्पत्ति के ऊपर काम करता है । प्रारंभिक साधन इतना होते हैं कि सालभर लोग अपना जीवन-निर्वाह उनके बल पर करते हुए चक्करदार उत्पादन में सम्मिलित होते हैं । अतएव यह अनिवार्य है, क्योंकि लोग हवा पीकर काम नहीं कर सकते । प्रारंभिक साधन को हम “निर्वाह कोष” (सबसिस्टेन्स फण्ड) कह सकते हैं । वार्षिक सामाजिक उपज का क्या विस्तार होगा यह इसी कोष के विस्तार के ऊपर निर्भर करेगा । लेकिन वर्ष के भीतर जो उत्पादन होता है उससे यह

कोष बढ़ सकता है। इससे उत्पत्ति का कोष भी बढ़ता जायगा। आगे चलकर हम “राष्ट्रीय-आय” के परिच्छेद में बतलाएँगे कि किस तरह राष्ट्रीय उत्पत्ति एक उस प्रवाह की तरह है जो प्रारंभिक साधन रूपी कोष (स्टॉक) से निकलता है लेकिन वह इस कोष को भी गहरे ढंग से प्रभावित करती है। अतएव प्रारंभ में जिसे हम स्थिर कोष-स्टॉक के रूप में ग्रहण करते हैं, वह आगे चलकर स्वयं प्रवाह बन जाता है। दूसरे शब्दों में वह प्रवाह का एक अंग बन जाता है। इस कार्य के फलस्वरूप इस अवस्था में वस्तुओं और सेवाओं (वे ही सेवाएँ जो श्रम के द्वारा बिना प्रारंभिक साधन की सहायता के द्वारा तैयार होती हैं) की एक धारा उत्पन्न होती है जिसे हम उस देश की उपज या उत्पत्ति कह सकते हैं।

उपज या उत्पत्ति = उपभोग + नव साधन (या नव पूँजी)

नव साधन का दूसरा नाम पूँजी—विनियोग या पूँजी-निर्माण है। उपभोग में उस वर्ष के भीतर उपभोग हुई उपभोक्ता की वस्तुएँ और सेवाएँ आती हैं। उदाहरण के लिए किराया पर लगाए किसी कमरे को लिया जा सकता है। उत्पादन की क्रिया चलती जाती है। एक ओर उपभोक्ता वस्तुएँ तैयार होती हैं जो उपयुक्त होती हैं। दूसरी ओर, उत्पादन की क्रिया से नवीन एक-प्रयोग उत्पादक-वस्तुएँ अपना सिर उठाती हैं, लेकिन तुरत उसमें वे अपनी गरदनें झुको लेती हैं और उपभोग-वस्तुओं में परिणत हो जाती हैं! हम उन उत्पादक-वस्तुओं को नहीं शामिल करते जो १९५२ में तैयार होती हैं, लेकिन जो उसीके भीतर उपभोग-वस्तुओं के मालों के रूप में प्रयुक्त होती हैं।

खालिस उपज = उपभोग + खालिस पूँजी-विनियोग

खालिस उपज में उत्पादन के साधनों द्वारा उत्पन्न वस्तुएँ और सेवाएँ आती हैं।

खालिस पूँजी-विनियोग = पूँजी में सम्पूर्ण वृद्धि—घिसावट।

इसके ऊपर विचार करने से ज्ञात होता है कि उत्पादन की क्रिया कितनी चकरदार है

तीसरी अवस्था या दर्जा—१९५२ वर्ष के अन्त में (१९५३ की पहली जनवरी)

१९५२ का अन्तिम साधन या

१

१९५३ का प्रारंभिक साधन = (१९५२ का प्रारंभिक साधन—

२

पूँजी की घिसावट और खपत १९५२ में)

+ (नव साधन, जिनमें नए मकान भी रहेंगे, जो १९५२ में तैयार हुए और जिनको पूँजी-विनियोग कहते हैं)

३

टिकाऊ-प्रयोग उत्पादक-वस्तुओं की घिसावट होती है और एक प्रयोग उत्पादक-वस्तुओं की खपत होती है। घिसावट का दूसरा नाम अवक्षयण है। यदि अन्तिम साधन प्रारंभिक साधन से अधिक है तो १९५२ में सफल उत्पादन-कार्य हुआ है। अगर वह उससे कम है तो सफल उत्पादन-कार्य नहीं हुआ है। पूँजी-निर्माण का दूसरा नाम पूँजी-विनियोग है। यह दी पूँजी में जो कुछ नया जोड़ा जाता है, वही है। यदि किसी समाज के पास पांच मकान हैं तो किसी वर्ष जो तीन मकान बनाये जायेंगे उन्हें हम “पूँजी-निर्माण” या “पूँजी विनियोग” कहेंगे। उत्पादन-कार्य में जो पूँजी बरबाद या घिस जाती है उसको घिसावट या अवक्षयण कहते हैं। यदि पूँजी की घिसावट या बरबादी को पूरा करना है तो उसके लिए समाज को अलग एक कोष निकालकर रखना होगा जिसे अवक्षयण-कोष कहेंगे। इससे पूँजी आबाद रहेगी। जब पूँजी की घिसावट या ह्रास और बरबादी को पूरा नहीं किया जाता तब उसको “पूँजी का

उपभोग' कहते हैं। इससे पूँजी की आयु खत्म होने पर पूँजी से देश सर्वदा के लिये हाथ धो बैठेगा। पूँजी का उपभोग बड़ा ही मोहक गुलाबी रास्ता है जिसपर वेवकूफ चलते और अकड़ते हैं, चालाक उसे दूर ही से सलाम करते हैं।

स्मीथ या अन्य शास्त्रीय अर्थशास्त्रियों ने उत्पादन की क्रिया से प्रारंभिक पूँजी पर श्रम का काम करके उपभोग-वस्तुएँ और नव साधन या पूँजी बनाना समझा था और सेवाओं को इसलिये छोड़ दिया था कि वे अनुत्पादक मानी गई थीं। लेकिन आधुनिक अर्थ-शास्त्री विनिमय-साध्य सेवाओं को भी सामाजिक उपज में शामिल करते हैं।

सामाजिक [या राष्ट्रीय] उपज [या उत्पत्ति]

बनाम सामाजिक [या राष्ट्रीय] आय

सामाजिक उपज चीजों और वस्तुओं का समूह है। सामाजिक आय उसका मुद्रागत व्यक्तीकरण है। खालिस सामाजिक उपज और सम्पूर्ण सामाजिक आय में गहरा और निकट संबंध है। लेकिन सम्पूर्ण सामाजिक आय कृतते समय हमें वैदेशिक प्रदायों (आयात-निर्यात के अन्तर) और राजकीय या सरकारी आय-व्यय का भी खयाल करना पड़ता है। आत्म-पूर्ण, बाहरी देशों से एकदम अछूते देश के लिये उसकी सामाजिक आय उसकी खालिस सामाजिक उपज के बराबर होती है, लेकिन चूँकि कोई देश आत्म-पूर्ण नहीं, उसका व्यापारिक संबंध विदेश या विदेशों से है, इसलिए उसे आयात-निर्यात करना पड़ता है। अगर किसी देश का कुल निर्यात उसके कुल आयात से अधिक है तो वह एक ऋणदाता देश कहा जायगा। उसको बाहर से खालिस सूद और खालिस डिविडेन्ड मिलेंगे। इससे उसकी खालिस सामाजिक उपज उसको सामाजिक आय से उनकी कुल रकम

के बराबर मात्रा में अधिक होगी। यदि उसके कुल निर्यात उसके कुल आयात से कम हैं तो वह एक ऋणी देश कहा जायगा और उसको अपने यहाँ से खालिस सूद और खालिस डिविडेन्ड बाहर भेजना होगा और इनकी कुल रकम के बराबर उसकी सामाजिक आय उसकी खालिस सामाजिक उपज से कम होगी। अब सरकारी आय-व्यय को लीजिए। इस हालत में सामाजिक आय खालिस सामाजिक उपज (वैदेशिक लेन-देन को छोड़कर) के बराबर होगी। वह इस तरह सामाजिक आय = सामाजिक आयों का योगफल—सामाजिक ऋण पर सूद

= वैयक्तिक व्यय (उपभोग पर और पूँजी-विनियोग के कारण) + सरकारी आय—सामाजिक ऋण पर सूद
= वैयक्तिक व्यय + सार्वजनिक सेवाओं पर व्यय
= खालिस सामाजिक उपज या उत्पत्ति।

साँप बराबर अपनी दुम ही खाता है। यह कथन यहाँ चरितार्थ हुआ !

क्रमागत उत्पत्ति हास नियम

इस नियम को सबसे पहले कृषि के लगाव में प्रतिपादित किया गया था। इसमें बतलाया गया था कि भूमि की कृषि में लगी पूँजी एवं श्रम के परिमाण को बढ़ाते जाने पर उनमें हुई वृद्धि के अनुपात में भूमि से प्राप्त उपज में हुई वृद्धि कम होती है। यह किसानों के अनुभव की बात है। अगर यह बात नहीं होती तो एक गमले में हो खेती-बारी होती और श्रम एवं पूँजी की मात्राओं को बढ़ाकर विष्व भर की आवश्यक खाद्य-पूर्ति को उसीसे पैदा कर लिया जाता ! चाहे भूमि की गहरी खेती हो या विस्तृत दोनों दशाओं में यह नियम लागू होगा। जिस तरह मनुष्य के साथ उपभोग में क्रमागत उपयोगिता हास का नियम लागू होता है उसी तरह उत्पादन में यह नियम लागू होता है। यह नियम किसी एक देश के लिए ही सत्य नहीं बल्कि सारे संसार के लिए सत्य है। लेकिन इस नियम के अपवाद

हैं। अगर खेती-बारी का ढंग बदल जाय, वैज्ञानिक ढंगों का उपयोग हो, पूँजी एवं श्रम की उत्तरोत्तर इकाइयाँ पूर्ववर्ती इकाइयों की अपेक्षा निपुण हों, फसलों को चक्रदार रूप में उपजाया जाय, अच्छी खाद, सिंचाई और बीज का प्रबन्ध हो, वृहत पैमाने पर उत्पादन होने से लाभ हों, आदि तब कृषि में यह नियम लघु अवधि में लागू नहीं होगा, परन्तु दीर्घ अवधि में यह अवश्यमेव लागू होगा।

यह नियम सार्वभौम है। यह भूमि के अन्य अंगों में भी लागू होता है जैसे खनन-कार्य में, मछलीगाहों में, मिट्टी बर्तन के उद्योग में, नगर-भूमि में। कई छतों वाले मकान बनाने में भी यही बात देखी जाती है। उद्योग-धंधों में भी यह नियम लागू होता है। यह इसलिए कि कितने ऐसे अविभाज्य साधन होते हैं जिनकी पूर्ण सामर्थ्य का उपयोग जबतक नहीं होता तबतक यह नियम लागू होगा, जब उद्योग-धंधों में विशिष्टीकरण नहीं होता, या जब आन्तरिक और बाह्य मितव्ययिताओं का प्रभाव प्रतिकूल रहता है, या जब किसी उत्पादन के साधन की पूर्ति इतनी स्थिर रहती है और उसकी इकाइयों में पूर्ण प्रतिस्थापन लोच की कमी होती है कि आवश्यकता पड़ने पर अपेक्षित मात्रा में और अपेक्षित समय में पूर्ति नहीं परिवर्तित की जाती, अथवा जब स्थिर साधन या साधनों और परिवर्त्य साधन या साधनों के बीच संतुलन स्थापित करना कठिन रहता है। यही कारण है कि उत्पादन के विस्तार के साथ औसत उत्पादन-व्यय बढ़ता जाता है। इसीसे हम नियम को दूसरे शब्दों में क्रमागत उत्पादन-व्यय वृद्धि नियम भी कहते हैं।

पुराने अर्थशास्त्री उत्पत्ति के नियमों के अनुसार उद्योग-धंधों का विभाजन किए हुए थे मानों उन्होंने क्रमागत उत्पत्ति-हास, क्रमागत उत्पत्ति वृद्धि और स्थिर उत्पत्ति के तीन बाक्स बनाए हों और जो

उद्योग जिस नियम द्वारा शासित होता था उसको उसीमें रखकर दकन पर एक लेबुल लगा दी हो ! आधुनिक अर्थशास्त्री कहते हैं कि ये सभी उत्पत्ति नियम किसी भी उद्योग की विभिन्न अवस्थाओं में जव-तब लागू हो सकते हैं और हम इनके दृष्टिकोण से उद्योग-धंधों का वर्गीकरण नहीं कह सकते । उनका यह कथन आँकड़ों पर, निरीक्षण पर आधारित है । क्रमागत उत्पत्ति वृद्धि नियम को क्रमागत उत्पादन-व्यय ह्रास नियम कहते हैं, क्योंकि उत्पादन की वृद्धि के साथ औसत उत्पादन-व्यय घटता जाता है । स्थिर उत्पत्ति नियम की दशा में औसत उत्पादन-व्यय में कोई फर्क नहीं पड़ता । यह उक्त दोनों नियमों के बीच की संतुलित अवस्था का द्योतक है ।

आबादी के दो सिद्धान्त

आबादी या जनसंख्या के दो सिद्धान्त हमारे बीच प्रचलित हैं—मालथस का सिद्धान्त और कैन्न का सिद्धान्त । कैन्न के जनसंख्या सिद्धान्त को आदर्श अधिकतम—ऑप्टिम्म—जनसंख्या का सिद्धान्त भी कहते हैं । पहले मालथस के सिद्धान्त पर दृष्टिपात कीजिए । (१७६८) में मालथस नामक एक विवाहित और सन्तानवान पादरी ने, जो अर्थशास्त्र का एक बड़ा ही आकर्षक और प्रभावोत्पादक व्याख्याता भी था, अपने एक मौलिक निबन्ध में काफी खोज-पड़ताल के बाद बतलाया कि मानव-जाति के अन्दर सन्तानोत्पादन की जो वृत्ति या शक्ति है, वह इतनी उद्दम है कि यदि प्राकृतिक या नैसर्गिक व्यवधान आबादी की बाढ़ को नहीं रोकें तो किसी भी देश की आबादी पच्चीस साल में दुगुनी हो जा सकती है । ऐसा हरदम नहीं होता । यह इसलिए कि या तो लोग निरोधक या प्रतिबन्धक उपायों (जैसे, विलम्बित विवाह, ब्रह्मचर्य, इन्द्रिय-निग्रह, न्यून स्त्री-सहवास विधवा विवाह पर रोक) द्वारा आबादी की वृद्धि की स्वाभाविक

गति को कम करते हैं या प्रकृति ही नैसर्गिक उपाय (जैसे, दुर्भिक्ष, युद्ध, बाढ़, महामारी) काम में लाती है, क्योंकि वह किसी देश को सम्पूर्ण जनसंख्या और सम्पूर्ण खाद्य-पूर्ति में संतुलन स्थापित करना चाहती है। किसी देश में उतनी ही आबादी रह सकती है जितने के लिए उसमें जीवन-निर्वाह के साधन हैं। जो फिजूल या अधिक जन-संख्या होगी वह नष्ट हो जायगी। लोग दिनोंदिन बढ़ते जा रहे हैं। बढ़ी आबादी सीमित भूमि की खेती-बारी चाहे गहरे या विस्तृत ढंग से करती है, लेकिन खेती-बारी में क्रमागत उत्पत्ति ह्रास का नियम लागू होता है जिससे एक विन्दु के बाद उपज घटने लगती है और शून्य भी हो जा सकती है। अतएव जन-संख्या की वृद्धि की गति सम्पूर्ण खाद्य-पूर्ति की वृद्धि की गति से बहुत अधिक है। इसलिए अत्याबादी के सामने स्वाभाविक आबादी को छोड़कर केवल मरने और मार डालने का सवाल रह जाता है ? मालथस ने बतलाया कि मानवता का भविष्य बहुत ही अंधकारमय है अगर लोग सतर्क नहीं होते और निरोधक उपायों से सम्पूर्ण आबादी को सम्पूर्ण जीवन-साधनों की सीमाओं तक परिमित नहीं रखते।

लेकिन आयरलैंड को छोड़कर और किसी देश के इतिहास ने मालथस के सिद्धान्त की पुष्टि नहीं की है। मालथस एक मिथ्या भविष्यदर्शक सिद्ध हुए। उनके सिद्धान्तों की आलोचना इन विन्दुओं पर हुई है:—उन्होंने जन-संख्या के प्रश्न को समूची आबादी और समूची खाद्य-पूर्ति के बीच का लगाव माना है। यह गलत है। किसी देश में धन या क्रय-शक्ति रहने से वह (जैसे इंग्लैंड) अपने यहाँ खाद्य-पूर्ति अर्पणित रहते हुए भी बाहर से शेष खाद्य-पूर्ति मँगा सकता है। मालथस ने खाद्य-पूर्ति की वृद्धि की गति और जन-संख्या की वृद्धि की गति के अन्तर की अतिशयोक्ति की है। उनके सिद्धान्त की आधार-शिला क्रमागत-उत्पत्ति-ह्रास नियम है जो स्वयं

अपवादपूर्ण है। (पीछे हम यह देख चुके हैं) फिर मालथस ने यह नहीं सोचा कि शिक्षा के प्रसार से, मनोरंजन और दिलबहलाव के नए-नए जरिया के खुलने (पत्नी के अलावा !) पर, आर्थिक जीवन के अधिक संघर्षपूर्ण होने से लोगों के अन्दर की सन्तानोत्पादक वृत्ति भी कम उद्दाम पड़ जा सकती है या इसके सत्य नहीं होने पर भी लोग इस यौन-वृत्ति को जन्म-निरोध के उपायों के सहारे कम प्रभावोत्पादक बना सकते हैं या अन्य दिशा में उन्मुख कर सकते हैं। नव-मालथसवादियों ने परिवार के विस्तार को कम बनाने के लिए इन साधनों पर जोर दिया है और प्रचार भी किया है। सर्व-साधारण इससे अप्रभावित नहीं जान पड़ते।

कैन्न-प्रणीत आदर्श अधिकतम जन-संख्या का सिद्धान्त बतलाता है कि “किसी समय उत्पादन के टेकनिक और ज्ञान, और बाजार के संगठन की दी हुई (स्थिर) अवस्थाओं में किसी देश में एक ऐसी आबादी हो सकती है जिसमें कमी या बेशी होने से हर हालत में प्रतिजन जो आय पड़ती है उसकी मात्रा या रकम न्यून हो जाय। ऐसी आबादी को आदर्श अधिकतम—ओप्टिमम—आबादी कह सकते हैं।” उससे अधिक जनसंख्या होने पर अत्याबादी और उससे कम जन-संख्या होने पर अपाबादी होती है। अत्याबादी और अपाबादी दोनों से प्रतिजन आय कम हो जाती है। यह कैसे होता है ? आप कहेंगे कि अत्याबादी होने पर प्रतिजन आय का कम होना विश्वासार्थ है, लेकिन अपाबादी होने पर प्रतिजन आय को कम नहीं होना चाहिए, बढ़ना चाहिए ! आपकी भ्रमपूर्ण शंका का समाधान करने के पहले आपको हम एक बड़ी ही प्रधान और सारगर्भित बात कह देना चाहते हैं। वह यह है कि किसी देश की समूची राष्ट्रीय आय समूची जन-संख्या की सृष्टि नहीं है, बल्कि वह कायरत जनसंख्या की सृष्टि होती है। “ओप्टिमम” एक गतिशील विन्दु है और

वह पूर्वमान्यताओं के स्वरूप परिवर्तित होने पर नीचे-ऊपर उतर सकता है। एक परिस्थिति में जो आवादी किसी राष्ट्र के लिए ऑप-टिम्म है वह इन मान्यताओं के बदलने पर वह नहीं रह जायगी, उससे कम या अधिक आवादी ही तब ऑपटिम्म होगी। इस बात का विशदीकरण हम आगे करेंगे।

अपवादी के दुष्परिणाम

जब किसी देश में अपवादी होती है तब उसमें कार्यरत आवादी की संख्या घट जाती है। पेन्शन पाने वाले लोगों की तादाद बढ़ जाती है। प्रतिजन बाजार का हिस्सा पहले से अधिक और कच्चे मालों का हिस्सा कम पड़ेगा। आर्थिक प्रणाली का संगठन मामूली होगा। वह हानिकारक भी हो जा सकता है। कम लोग रहेंगे तब भारी काम (जैसे नदियों में पुल बनाना) आसानी से नहीं हो सकता। और दुश्मन से लड़ाई भी ठीक से नहीं लड़ी जा सकती। देश की स्वतंत्रता खतरे में पड़ जायगी! सुन्दरियों पर बलात्कार का डर होगा!! शत्रु देश का धन लूटकर ले जा सकते हैं!!! धन ही क्यों कंचन के साथ कामिनियाँ भी जायेंगी! उद्योग-धंधों का काम बृहत् पैमाने पर नहीं चल सकता। विशिष्टीकरण का पूरा उपयोग नहीं होगा। निपुणता कम होने से उत्पादन में बृहत्-पैमाने की वचत्तें नहीं होगी। मजदूरों की चातुरी सीमित होगी। खेती-बारी के दंग पुराने पड़ जायेंगे। सार्वजनिक आश्रय-व्यय, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, आर्यों का वितरण, रोजी का परिमाण, आदि सभी प्रतिकूल रूप में आन्दोलित हो उठेंगे। केवल सुँहवाले उपभोक्ताओं की ही संख्या कम नहीं होगी, दो हाथवाले उत्पादकों की भी संख्या कम हो जायगी! समाज के उत्पादन एवं उपभोग पर अहितकर प्रभाव पड़ेगा। अगर समाज की क्रय-शक्ति को अनुष्ण रखा गया तो यह सब नहीं होगा, लेकिन ऐसा करना अत्यन्त कठिन है। अपवादी में प्रभावोत्पादक माँग कम

होती है और उसने उपभोग की वस्तुओं की माँग घटने के फलस्वरूप उत्पादन की वस्तुओं की पूर्ति और माँग कम हो जाती है। कम मकान, कम सड़कों और नालियों, कम स्कूलों और सार्वजनिक संस्थाओं की जरूरत होगी। बच्चों की चीजों का उत्पादन कम होगा और बूढ़ों की चीजों का उत्पादन बढ़ेगा। यह बुढ़ाती (ऐजिङ) जन-संख्या की निशानी है। श्रम की गतिशीलता कम होगी। जव उत्पादन घटेगा तब लोगों की प्रतिजन आवादी कम हो जायगी।

अत्याबादी के दुष्परिणाम

जव किसी देश में अत्याबादी हो जाती है तब उस देश के प्रतिजन की आय घट जाती है। बढ़ती हुई आबादी को पूँजी के बढ़ते उत्पादन में लगाना पड़ता है। एक विन्दु के बाद यह कठिन हो जाता है। इससे औसत जीवन-स्तर गिर जाता है। प्रत्येक श्रमिक की औसत उत्पादकता कम हो जाती है। कोई भी देश भूमि के क्षेत्र को विस्तारित नहीं कर सकता। भूमि एक स्थिर पूँजी है। अत्याबादी का एक डर भूमि के अभाव के कारण भी है। क्या दूसरे देशों से जमीन छिन नहीं सकते? छिनने के लिए कोशिश की जा सकती है, लेकिन छिन सकना बड़ा कठिन कार्य है! आजकी अनिश्चित दुनिया में कोई सचल देश भी नहीं कह सकता कि वह अपने दुर्बल पड़ोसी की कुछ जमीन छिन लेने में सफल होगा। जव विस्तृत खेती संभव नहीं तब गहरी खेती की जानी चाहिए। लेकिन इसकी भी सीमा है। अत्य बादी वाले देश की आर्थिक प्रगति और कार्य में दुष् संतुलन उत्पन्न हो जाते हैं। ऐसा देश अत्याबादी रूपी शक्कर के गढ़े में पड़ा उसको चाटता-चाटता मानों मदमत्त हो जाता है! वह अपने को ठीक तरह संभाल नहीं पाता। यदि विदेश उसकी दयनीयता पर तरस खाए तो हो सकता है कि वैदेशिक व्यापार के जरिए उसका कुछ त्राण हो सके?

चातुरी में विभिन्नताएँ और उसकी वजहें

श्रम की चातुरी में जो विभिन्नताएँ पाई जाती हैं उनको चार वर्गों में प्रस्तुत किया जा सकता है—(१) शारीरिक, मानसिक, मनो-वैज्ञानिक या नैतिक—ये विभिन्नताएँ पैतृक, सामाजिक या परिवेष्टन-जन्य होती हैं। (२) स्थायी—जैसे पुरुष और नारी की चातुरी में जो विभिन्नता होती है वह स्थायी होती है। ऐसा लिंग और यौन के कारण होता है। यह नैसर्गिक प्रेरणा है। (३) उपलब्ध शिक्षा-दीक्षा की प्राप्ति या अप्राप्ति के कारण। मजदूर करींदे की भाड़ियों या फलों की तरह तो उपजते नहीं ! उनके लालन-पालन में अभिभावकों की कठिन कष्ट और वास्तविक त्याग सहना पड़ता है। तभी वे काम करने के लायक—माहिर !—बन पाते हैं। मजदूरी की वृद्धि का कुछ प्रभाव पड़ता है, लेकिन उसके कारण ही तपाक से मजदूर शादी नहीं कर लेते और मशीन की तरह बच्चा नहीं पैदा करने लगते ! वस्तु और मानव की गतियों में यही अन्तर है। यही वास्तविक व्यय का पक्ष है। (४) कृत्रिम—परम्पराओं और रुढ़ियों के कारण—जैसे, किसी मजदूर-संघ का टिकट का होना या न होना, शब्दोच्चारण में भिन्नताएँ—हमलोग 'बजेट' कहते हैं, कुछ असामिया भाई 'बड़जेट' कहते हैं। हमारे दोस्त विलायत जाने के पहले 'डिमेल्पमेन्ट' कहते थे। आने पर 'डिमेल्पमेन्ट' कहेंगे ! नौकरी देते समय इसका भी महत्व होता है। इसीके कारण हम कह उठते हैं आप हमारे जिला-जवार के आदमी जान पड़ते हैं, क्योंकि आपकी बोली हमारी बोली से मिलती-जुलती है !

तीन कारणों से चातुरी में विभिन्नता पाई जाती है—(१) नैसर्गिक या प्राकृतिक योग्यता में फर्क होने से—लोग चीनी के दानों की तरह समान गुण लेकिन असमान डील-डौल के न होकर विभिन्न गुणों वाले होते हैं ! एक आदमी दूसरे आदमी की तुलना

में पचगुना अधिक (मानों वह श्रम की पांच इकाइयां हो !) योग्य हो सकता है। लोग विभिन्न अंशों में ऊर्वर जमीन के टुकड़ों—खेतों की नाईं होते हैं। और स्त्री-पुरुष में फर्क होता ही है ! राजस का पुत्र राजस, बौना का पुत्र बौना, चोर का पुत्र डाकू होता ही है ! लेकिन चातुरी में फर्क अन्तर्जाति (इनवॉर्न) से अधिक उपलब्ध (फिनिश) चातुरी के कारण भी हो सकता है। (२) शिक्षा-दीक्षा की मात्रा में फर्क होने से—इससे आदमी अच्छा बनता है और उन्नति के शिखर पर पहुँच जाता है। समाज के जो लोग मक्खन (या नमक !) कहे जाते हैं वे सुशिक्षित-सुदीक्षित होते हैं। इनके बिना कितने फूल अनजान में ही खिलते और मरुभूमि पर अपनी मिठास छोड़कर अन्तर्धान हो जाते हैं। (३) अनुभव की मात्रा में फर्क होने के कारण केवल शिक्षा-दीक्षा ग्रहण करने से आदमी चतुर नहीं बन जाता। एक औंस विद्या के लिए दस टन अनुभव चाहिये ! अनुभव-दुनिया का—आदमी को धुरन्धर बनाता है। अगर यह बात नहीं होती तो डाक्टर की उपाधि प्राप्त लोगों को ' प्रैक्टिकल फेल्यूअर ' कहकर दूसरे क्योंकर हँसते ? शिक्षा-दीक्षा और अनुभव मानों नैसर्गिक योग्यता में लगाये गये विनियोग (इन्फेस्टमेन्ट) की तरह हैं। इस विनियोग के स्वरूप तथा परिमाण में अन्तर होने से समान नैसर्गिक योग्यता वाले भी असमान वेतन पाते हैं। संज्ञित में हम कह सकते हैं कि सुयोग में के वितरण में असमानता होने के कारण लोगों की चातुरी में विभिन्नताएँ हो जाती हैं।

सम्पूर्ण आवादी बनाम कार्यशील आवादी

किसी देश में जितने लोग—स्त्री-पुरुष, बच्चे-बूढ़े, लड़के-लड़कियाँ—रहते हैं उनकी सम्पूर्ण संख्या को सम्पूर्ण आवादी कहते हैं। लेकिन उसका एक भाग राष्ट्रीय उपज को तैयार करने में कोई भाग नहीं लेता। इस भाग को छोड़कर जो बड़ा भाग बचता है, वही

विभिन्न पेशाओं में प्रवृत्त होकर वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन करता है जिनके समूह को हम राष्ट्रीय उपज कहते हैं। इन लोगों के ही हाथ अपने को और उक्त भाग को खिलाते-पिलाते हैं, जीवन-निर्वाह करते हैं। सम्पूर्ण आवादी में जो शिशुओं, परिवारों के भीतर काम करनेवाली स्त्रियों, और बूढ़े और अपङ्ग लोगों की संख्याओं को घटा देने पर जो आवादी बचती है, उसे कार्यशील आवादी कहते हैं। बेकार लोगों की संस्था को घटाने की जरूरत नहीं, क्योंकि ये लोग देर-सवेर पुनः काम करने ही लगते हैं। कार्यशील आवादी अप्रलिखित पेशाओं में बँटी रहती है—सभी तरह के शिल्प उद्योग-धंधे, कृषि और मछली मारना और शिकार खेलना, खनन-कार्य, वाणिज्य और व्यवसाय या व्यापार, यातायात और आवागमन, निजी सेवाओं (होटेल, आदि में भी), सार्वजनिक शासन-विभागों में, पेशाओं में, रक्षा-विभाग में, गैस-जल-विजली के उद्योग धंधों में, दिल्खबहलाव, खेल-कूद, फुटकर कार्यों में। मोटा-मोटी तौर से पेशाओं को तीन श्रेणियों में बाँटा जाता है—प्राथमिक (प्राइमरी), द्वितीय (सेकण्डरी) और तृतीय (टरसरी)।

कार्यशील आवादी के विभाजन के उपाय

श्रम-विभाजन के सिलसिले में हम देख चुके हैं कि लोग उसी काम में लगते, विशिष्टीकरण करते हैं, जिसमें उनकी दिलचस्पी होती है। अगर अपनी इच्छानुसार ही लोग ऐसा करने लगें तो ऐसा संभव है कि किसी पेशा में आवश्यकता से अधिक और किसी में आवश्यकता से कम लोग लग जायेंगे। और पेशा-पेशा के बीच लोगों का, और साथ ही, योग्यताओं का संतुलित रूप में विभाजन न हो, किसी आवश्यक चीज का उचित परिमाण में उत्पादन न हो और किसी अनावश्यक चीज का अनुचित परिमाण में उत्पादन हो। अतएव पेशाओं के बीच श्रम का वितरण श्रमिकों और उत्पादकों की मर्जी के ऊपर

नहीं छोड़ा जा सकता है। उपभोक्ताओं के लाभालाभ का भी खयाल करके इस वितरण को नियंत्रित करना होगा। चूँकि उत्पादकों और उपभोक्ताओं में समानता है इसलिये यह आवश्यक भी है। इसके लिये दो यत्न हैं—अनिवारण (कम्पल्श) यत्न और प्रेरणा (इन्सेन्टिव) यत्न। पहले यत्न के सहारे सरकार तय करेगी कि किस अंश में कितने लोग लगेंगे और वह जबरदस्ती उसमें उतने लोगोंको लगाएगी। युद्धकाल में सामूहिक बहाली—सैन्य-नियुक्ति इसी यत्न से होती है। अस्थायी रूप से संकटकाल या अस्वाभाविक काल के लिए, स्थायी रूप से प्रेरणावाला तरीका अच्छा होता है। प्रेरणा कई तरह से दी जा सकती है—यश या उपाधि की लालच, या अधिक अवकाश की या अधिक मनोरंजन की या अधिक वेतन की। प्रेरणा अधिक लोकप्रिय और प्रभावोत्पादक होती है। इससे श्रम-पूर्ति का अभाव ज़रूरी से दूर किया जा सकता है। पहले यत्न की अपेक्षा यह अधिक न्याययुक्त और प्रजातन्त्रात्मक भी है। पहला तरीका उसी समय उत्तम होगा, जब सरकार ठीक तरह आश्वस्त हो जाय कि अमुक-अमुक व्यक्ति नये काम के लिए सबसे अधिक उपयुक्त हैं, जिस काम में वे खुद लगे हैं उनके लिये वे एकदम अनोपयुक्त हैं, और उन्हें पुराने काम से नये काम में उनको “कम-से-कम” कठिनाई पहुँचाकर लगाया जा सकता है। कहना ही नहीं होगा कि ये तीनों मापदंड एक साथ किसी व्यक्ति के साथ शायद ही लागू हों। जब तक ठीक चुनाव नहीं होता है तब तक पहला तरीका एकदम निकृष्ट साबित होगा। उससे लाभ के बदले नुकसान और बर्बादी होगी। प्रेरणावाले ढंग की बड़ी विशेषता यह है कि उसमें चुनाव का एक साधन भी निहित है। मजदूरी की वृद्धि प्रेरणा का भी काम करती है और आकर्षण का भी। नये काम के लिए अनेकों मजदूरों का जी ललच उठता है। लेकिन एक जोखिम है। वह यह है कि कितने मजदूर अधिक मजदूरी के लोभ में नये काम के लिए आतुर हो उठते

हैं, यद्यपि वे उसके पात्र नहीं होते। वे पीछे पड़ताते हैं। उस काम में ऐसे लोगों के लगने से उसकी निपुणता अपेक्षित मात्रा में नहीं बढ़ने पाती। फिर भी इस उपाय से मजदूरों को कोई कठिनाई बाहर से नहीं देता। वे खुशी-खुशी थोड़ी कठिनाई झेलने को तैयार हो जाते हैं। पुराने काम में दक्ष मजदूर जब अधिक मजदूरी के लोभ में निकलकर नये काम में जाना चाहता है और उसका मालिक इस बात को ताड़ जाता है तब वह उसको उतनी या उससे अधिक मजदूरी देकर उसको जाने से रोक रखता है। अतएव वे ही मजदूर जाते हैं जिन्हें मालिक रोकना लाभदायक नहीं समझता ! इस ढंग की एक अन्य त्रुटि यह है कि इससे आयों की विषमता बढ़ेगी। जिनकी ज्यादा जरूरत है उनको पहले से ज्यादा वेतन मिलेगा और जिनकी कम जरूरत है उनको पहले से कम वेतन मिलेगा और चूँकि ८० प्रतिशत लोग वेतन या मजदूरी पर ही जीवन-वसर करते हैं, इसलिये इससे आय की वर्तमान विषमता बढ़ जा सकती है। अतएव इस ढंग को सीमित और आवश्यक मात्रा में लाया जा सकता है। यही कारण है कि जनमत की आवाज के कारण अधिकांश देशों की सरकारों ने विविध पेशाओं में न्यूनतम मजदूरी की दरें निर्धारित कर दिये हैं। इतना ही नहीं, कई पेशाओं में ही नहीं सारे देश के लिए मजदूरी या वेतन की अधिकतम दरें भी निश्चित की जा रही हैं। इन कार्यों की मंशा आयों की असमानता को कम करना ही है। किसी देश में लेकचरों की बाढ़ होती है तो किसी में वकीलों की। जिन श्रमिकों को स्थानान्तरित करना है, उनमें कुछ नवसिखुआ होते हैं और कुछ अभ्यस्त। नवसिखुआओं को अभियोजित करने में उपाजित चातुरी की उतनी हत्या नहीं होती। थोड़ी प्रेरणा से काम चल सकता है, लेकिन अभ्यस्त श्रमिकों को स्थानान्तरित करने के लिए प्रबल प्रेरणा की जरूरत है। जब कोई लड़का अपने लायक पेशा का चुनाव कर रहा है तब वह विविध पेशाओं के भावी-प्रॉस्पेक्ट-से अधिक प्रभावित

होता है। भावी में केवल मजदूरी की दर ही नहीं आयगी वरन् नियमित रोजी की आशा भी आयगी। मजदूरी की दर और नियमित रोजी की सुस्थिरता विकासवान् उद्योग में अधिक और हासवान् उद्योग में कम होती है। पहले में श्रम-माँग बढ़ती, दूसरे में घटती है। एक और बात है। किसी तरह के श्रम की पूर्ति का अभाव इसलिए होता है कि उसके लिए काफी पैसा और समय खर्च कर शिक्षा-दीक्षा प्राप्त करनी पड़ती है और यह धनी की सन्तानें ही कर सकती हैं, गरीब की सन्तानें नहीं। इसलिए सरकार गरीब की सन्तानों को हर तरह की सुविधा देकर श्रम-पूर्ति बढ़ा सकती है। गरीबों और मध्यवर्त्तिवालों की सन्तानें अन्धेर-गली के कार्य करती हैं जिनमें विकास या उन्नति की कोई गुंजाइश नहीं रहती। अतएव असली समस्या है सुयोगों या अवसरों में वर्तमान असमानता को कम करना है। जातीयता, सिफारिश और पक्षपात के आधार पर जहाँ कहीं भी लोगों को अनुचित कार्यों में रखा जाता है वहाँ इनको रोकना चाहिए। इससे भी श्रम-पूर्ति के वितरण में जो गड़बड़ी है वह सुधारी जा सकती है। पूँजीवाद में सरकार ये ही उपाय कार्यान्वित कर सकती है। समाजवाद में तो सरकार ही एकान्त उत्पादक है और उत्पादन के साधनों की वही स्वामिनी है। अतएव देश की सम्पूर्ण श्रम-पूर्ति को जिस वह तरह चाहती है सर्वाधिक हित उपलब्ध करने के लिए विविध कार्यों में लगती है। वह भी उक्त-वर्णित ढंगों को प्रयुक्त करती है।

श्रम-पूर्ति के वितरण को प्रभावित करनेवाली माँगगत और पूर्तिगत शक्तियाँ

ऊपर जो कुछ लिख आये हैं वह इस परिच्छेद के बिना अपूर्ण ही रहेगा। इसलिए इसपर भी विचार करना है। पहले पूर्ति-पक्ष को लें। इस पक्ष में जो शक्तियाँ काम करती हैं वे बतलाती हैं कि किसी

खास विशेषता के लोग विभिन्न पेशाओं में इस तरह अपने को लगाते हैं कि उनमें मिलनेवाले “खालिस लाभ” सर्वत्र समान हों। समान जन्मजात गुण (पुरुष जाति नारी जाति का आलिंगन करती है ! यह एक जन्मजात गुण पुरुषों का है—चर्चिल के शब्दों में इतना ही क्यों !!) के लोग ऐसे कामों में अपने और अपने परिवारों के सदस्यों को लगाते हैं कि उन कामों से हटाकर उनको दूसरे कामों में लगाना हानिकारक होगा। दूसरी बात, प्रत्येक कार्य के “खालिस लाभ” बराबर होने की प्रवृत्ति रखते हैं और पेशा-चुनाव करते समय लोग इनमें प्रभावित होते हैं। तीसरी बात, किसी श्रम-वर्ग के रहन-सहन का स्तर उसके पेशा-चयन को प्रभावित करता है। मांग-पन्ना में हम तीन शक्तियों को पाते हैं। ये बतलाती हैं कि किस तरह प्रचलित मजदूरी पर किसी पेशा में लोग इस तरह लगते हैं कि उनकी सीमान्त उत्पादकता के बराबर उनकी मजदूरी हो:—(१) वस्तु या वस्तुओं की सार्वजनिक मांग—(लोचहीन या लोचपूर्ण) के अनुपात में मृत्यु होते हैं, घटते-बढ़ते हैं और वे श्रम-मांग को प्रभावित करते हैं। (अलपीनों के बदले लिपस्टीक की मांग, सम्पत्ति एवं आय के वितरण की असमानता के कम होने पर, आदि। पीछे हम उन कारणों को लिख आये हैं जिनके दाम के स्थिर रहने पर भी मांग बढ़ जाती है।) (२) श्रमिकों की उत्पादकता (या सीमान्त उत्पादकता) पर—“मैन-आवर” के अनुपात में “आउटपुट” उत्पादन के उन्नत ढंगों को व्यवहार करने पर, लोचहीन चीजों का दाम कम हो जाने पर, मजदूरों की मांग कम और लोचपूर्ण चीजों के दाम के घटने पर उनकी मांग के बढ़ने पर मजदूरों की मांग अधिक होगी, और (३) प्रतियोगितात्मक या एकाधिकारात्मक अवस्थाओं पर—प्रतियोगिता रहने पर कोई एक उत्पादक समूची श्रम-मांग को अपनी श्रम-मांग में हेर-फेर कर कोई ठोस परिवर्तन नहीं कर सकता, क्योंकि वह समूची पूर्ति का केवल एक अंश तैयार करता है। इसलिये प्रतियोगिता में मजदूरों को “सीमान्त उत्पादकता” के

अनुसार वेतन मिलता है। एकाधिकारी किसी चीज की लगभग समूची पूर्ति करता है और उस चीज को तैयार करने की कला जाननेवाले जितने मजदूर हैं वे सभी उसके वशीभूत रहते हैं, क्योंकि वही उनका एक रोजीदाता है। अतएव चाहे तो वह उनको मजदूरी उनकी सीमान्त उत्पादकता से कम दे सकता है, लेकिन वह आमतौर से ऐसा नहीं करता। व्यापारिक धूम में वह कुछ कम मजदूरी देगा भी तो व्यापारिक सस्ती में कुछ अधिक मजदूरी देगा जिससे उन मजदूरों का उपभोग कम न हो सके। इस तरह प्रतियोगिता की तुलना में एकाधिकार में मजदूरी की स्थिरता रह सकती है, क्योंकि उसकी पूर्ति में स्थिरता रहती है। और जब सरकार ही एकाधिकारी है तब क्या पूछना ! अन्त में हम कह सकते हैं कि मांगगत तथा प्रतिगत शक्तियां सहयोगपूर्वक कैची की दो धारों की तरह श्रम-वितरण को तय करती हैं।

श्रम का प्रयास या उत्पादकता या निपुणता

श्रम का प्रयास या कार्य की तीव्रता या निपुणता या उत्पादकता उसकी कार्य-शक्ति और इच्छा-शक्ति की उपज है। कार्य-शक्ति चार प्रकार के तत्वों—शारीरिक, कलात्मक, मानसिक और नैतिक पर निर्भर करती है। शारीरिक तत्वों में—स्वास्थ्य और ताकत, जाति जिसपर वजन, संस्कृति, डीलडौल, काबू निर्भर करता है, जलवायु, भोजन-वस्त्र, घर-द्वार, कार्य करने के स्थान की दशा—धूप, प्रकाश, हवा, आदि आते हैं। काम के घंटों पर भी निपुणता निर्भर करती है। इसके लिए संतुलित काम और आराम की जरूरत होती है। कार्य की इच्छा-शक्ति भी इससे जुड़ी हुई है। अधिक मन से काम करने पर अधिक उत्पादन होता है, न कि अधिक घंटों तक बे-मन का या कम जी लगाकर काम करने से। उद्योगशालाओं में पहले १० घंटा प्रतिदिन काम कराने का रिवाज और बाद में ८ घंटा का रिवाज

चला। अब ४० घंटा प्रति सप्ताह की परिपाटी निकल पड़ी। कार्य के घंटों का संबंध श्रम के जीवन-स्तर से है। जैसे-जैसे उसके रहन-सहन का स्तर उन्नत होता गया है वैसे-वैसे कार्य के घंटों में कमी होती गई है और रोजी और मजदूरी बढ़ने से जीवन-स्तर बढ़ा तो जीवन-स्तर बढ़ने से उत्पादकता भी बढ़ी। उद्योगशाला के वातावरण के शान्त और आकर्षक होने से श्रम कम थकानेवाला और कष्टदायक प्रतीत होता है। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है। यदि कम प्रयास से वर्तमान सामाजिक आय उत्पन्न हो तो यह अच्छा ही होगा। इससे सामाजिक सुख में वृद्धि ही होगी। कलात्मक तत्वों में चावुरी की मात्रा, पारिवारिक परम्पराएँ और अंतर्हित प्रवृत्तियाँ आती हैं। नैतिक तत्वों में एक ही स्थान में काम करने वाले नर-नारियों के पारस्परिक सम्बन्ध, ईमानदारी, निष्ठा, आदि आते हैं। कार्य की इच्छा-शक्ति में कई बातें आती हैं—लगन और दिलचस्पी, विशिष्टीकरण का होना या न होना, पारिवारिक घटनों का प्रभाव, मजदूरों के बीच स्वस्थ स्पर्धा, स्वार्थों के संवर्ष की कमी-बेशी, फोरमैन और मैनेजर का व्यवहार, प्रेम और सहानुभूति का अस्तित्व, जोर-जुल्म का अभाव, प्रेरणाओं—जैसे, तरक्की, अधिक वेतन, पारितोषिक, आशाएँ, वोनस, लाभ में हिस्सा देना, आदि—का होना। मजदूरी दो आधारों पर दी जाती है—कलानुसार और उपजानुसार। टाइम-वेज में एक कोटि के मजदूरों को समानुपातिक दर से मजदूरी देते हैं और कम तथा अधिक निपुण मजदूरों में कोई फर्क नहीं किया जाता है। पीस-वेज या फलानुसार वेतन (पेमेन्ट बाई रिजल्ट्स) में जो जितना ही अधिक उत्पादन करता है उसको उतना ही अधिक वेतन दिया जाता है। टीका की प्रथा इसका ही एक रूप है। पूँजीवाद में इसका कम व्यवहार होता है। समाजवाद में इसका अधिक उपयोग होता है और इससे वहाँ अधिक राष्ट्रीय उत्पत्ति करने में मदद मिलती है। लेकिन अधिक मात्रा में इस ढंग से काम लेने पर आयों की विषमता

बढ़ जा सकती है। इसकी व्याख्या हम पीछे कर आये हैं। फिर, कम नोरस और आकर्षक कामों में यह अच्छी तरह काम नहीं करेगा। कभी-कभी इसमें मनमानापन भी हो सकता है। श्रमला लोग मनमाना दर ठीक करने लगेंगे। अतएव दोनों प्रणालियों का आवश्यकतानुसार उपयोग लेना चाहिए। पूर्ति-पक्ष में उत्पादन के टेक्निक पर भी श्रम की निपुणता निर्भर करेगी। मजदूर-संघ का होना या न होना भी विचारणीय है। सामाजिक और राजनैतिक पहलुओं पर—सामाजिक सुरक्षा की योजना का होना या न होना, बेकार हो जाने की आशंका की उपस्थिति या अनुपस्थिति, कारखाने के नियम, श्रम-ऑफिसरों की बहाली, सरकार का रुख, आदि—भी श्रम की निपुणता निर्भर करती है।

मशीनों का प्रभाव

मशीनों का प्रभाव समाज, उपभोक्ताओं और मजदूरों पर हितकर और अहितकर दोनों पड़ा है। मजदूरों पर पड़ने वाले हितकर प्रभावों को देखिए—कार्य की गति में अद्भुत वृद्धि, चीजों की स्वजातीयता और पूर्णता, श्रम की गतिशीलता—पेशागत और स्थान-गत—बढ़ गई है। कितने एकरस काम सरस हो गए, भारी-भारी काम मशीनें आसानी से करती हैं, अवकाश अधिक मिलता है, श्रम की चातुरी और जिम्मेदारी की भावना अधिक है। उनपर ये अहितकर प्रभाव पड़ते हैं—उत्पादन के टेक्निक बदलने से विशिष्ट मजदूरों का बेकार होना, अत्युत्पादन के कारण बेकारी, स्वतन्त्रता का ह्रास, मन-मानस पर अत्वस्थ और अनीतिक प्रभाव, आदि। उपभोक्ता को ये फायदा हैं—अनुरूप इकाइयों में चीजें मिलती हैं, सस्ते दाम पर और जल्दी। लेकिन उनको नुकसान भी हुआ है—मेराइटी गुड्स का समय नहीं रहा, कभी-कभी बेदंगी चीजों से ही उन्हें सन्तोष करना पड़ा है, और अधिक दाम देकर भी। समाज पर प्रतिकूल प्रभाव—

सारी दुनिया एक आर्थिक इकाई बन गई है। प्राकृतिक शक्तियों पर समाज का आधिपत्य बढ़ता जा रहा है। लेकिन मशीनों के कारण बहुत से कुटीर उद्योग-धन्धे नष्ट हो गए, बेकारी आती हो रहती है, श्रम-पूँजी के वर्गों में निरन्तर कलह रहता है, उत्पादकों और उपभोक्ताओं के स्वार्थों में भी तनातनी रहती है, मशीनों पर समाज इतना अवलम्बित हो गया है कि युद्ध-काल में इसकी त्रुटि कुछ नजर आती है और जब वे एक दिन धोखा दे डालें, तो आदमी कहीं का नहीं रहेगा। फिर भी मशीनें स्वयं बुरी नहीं। उनके उपयोग की मात्रा और उनपर अवलम्बन की मात्रा ही सोचनीय है।

पूँजी में वैयक्तिक जायदाद

पूँजी-सामानों के ऊपर निगरानी रखने की बड़ी आवश्यकता है। उन्हें अच्छी हालत में रखना चाहिए। समाजवाद में सरकार देखेगी। पूँजीवाद में लोग देखते हैं। पूँजीवाद में हर आदमी को क्रय-विक्रय करने और लाभार्जन करने की स्वतन्त्रता है। किसान कितनी ममता के साथ अपने खेत-खलिहान की देख-रेख करता है। अगर जमीन्दार और उद्योगपति भी अपनी जमीन-जायदाद का सदुपयोग करता है तो क्या उसका लाभार्जन करना न्याय-सम्मत नहीं? हम अभी देखेंगे कि समाज की अधिकांश पूँजी पर व्यक्तियों का स्वत्व कैसे संयुक्त पूँजी कम्पनियों और उद्योग-संगठनों के कारण प्रत्यक्ष न होकर अप्रत्यक्ष हो गया है, किस तरह कागज (शेयर, स्टॉक, बॉन्ड, डिविडेंडर) के रूप में स्वामित्व केवल उपलब्ध नाममात्र का स्वामित्व है, वह मखौल बन गया है, किस तरह स्वामित्व और नियन्त्रण में विच्छेद हो गया है जिससे उद्योगों के मुसंचालन और पूँजीगत सामानों के सदुपयोग में संयम और दिलचस्पी का अभाव है मामूली शेयर। होल्डर कम्पनी के लाभालाभ, उत्कर्ष-अपकर्ष से प्रभावित नहीं होता और डाइरेक्टर कई कम्पनियों में अपने अंडे

बिखरे हुए हैं (उस सीधे-सरल लेखक की तरह नहीं जो अपनी सारी पुस्तकें केवल एक वंचक प्रकाशक को दे डालने के बाद हाथ पोटा है !) जिससे वे एकाग्रचित्त होकर किसी कम्पनी की उन्नति की बात नहीं सोचते, और मैनेजर तो वेतन प्राप्त कम्पनी के गुलाम ठहरे, उनका स्वार्थ क्या सिद्ध होगा, अगर वह उसके लाभ को बढ़ावें ! फलतः पूँजी-समानों के ऊपर लोगों का निष्क्रिय—पैसीभ—नियन्त्रण है। शेयर होल्डर भी अपने अंशों को दस जगह बिखेर कर रखते हैं जिससे उनकी जोखिमें कम हो सकें। सरकार को ऐसी हरकतों को रोकना चाहिए और जोखिमों को कम करना चाहिए।

व्यावसायिक संगठन के रूपों में परिवर्तन

औद्योगिक क्रान्ति के पूर्व सीमित माँग और सीमित पूर्ति होती थी। उसके पश्चात् यातायात एवं आवागमन के साधनों में अपूर्व विकास हुआ है। मशीनों का निर्माण हुआ। अधिक पूँजी की माँग होने लगी। नियन्त्रण और स्वामित्व के सवाल टेढ़े-मेढ़े हो गए। उत्पादकों में होड़ मचने लगी। पूँजी के लिए प्रतियोगिता होने लगी। पहले एक-प्रणेत के व्यवसाय चलते थे, फिर साझेदारी चली। उसने भी काम बनता न देखकर, पूँजी की पूर्ति में कठिनाई अनुभव कर लोगों ने वैयक्तिक कम्पनियाँ बनाईं। इस तरह सहयोगपूर्वक व्यवसाय चलने लगे। आगे चलकर बृहत् पैमाने के उत्पादन में उत्पन्न बचतों से लाभान्वित होने के कई व्यवसायों का समन्वय शुरू हुआ। जब ऐसे व्यावसायिक समन्वय समाज को तबाह करने लगे तब सरकार ने एकाधिकारात्मक प्रवृत्तियों को रोकने के लिए कई कानून पास किए। कानूनों के शिकंजे से बचने के लिए इन समन्वयों का रूप बदलता रहा और नए नाम के समन्वय चल पड़े।

व्यावसायिक संगठन के भेद

एक-आदमी या एक-प्रेषता का व्यवसाय वह है जिसमें एक ही आदमी सर्वस्व होता है, अपनी पूँजी लगाता, अपने और अपने परिवार के सदस्यों के साथ मिलजुल कर काम करता, लाभ-हानि में हिस्सा बँटानेवाला वह अकेला अपने है। इस व्यवसाय के गुण ये हैं—काफी दिलचस्पी, समूचा मुनाफा, उत्साह और उमंग, गर्व और स्वतंत्रता, कार्य-संचालन की शैली में परिवर्तन बहुत ही आसान, कम पूँजी से भी चलाने लायक, सरकारी अंकुशों का बिल्कुल कम भय, लोच और स्वामी, अधिकों और स्वामी के बीच सुन्दर व्यवहार आदि। लेकिन हानि का डर, जिससे वह एकदम नष्ट हो जा सकता है, पूँजी की सीमितता, स्वामी के मरने के बाद अयोग्य उत्तराधिकारी संभाल नहीं सकता, बहुत मिहनत करना, जानकारी की सीमा, आदि इसकी खामियाँ हैं।

साम्बेदारी के व्यवसाय में कुछ आदमी रोजगार करते हैं। एक इकरारनामा के कागज पर वे समझौता कर लेते हैं। या तो सभी पूँजी लगाते हैं या वे एक-दो पूँजी नहीं लगाते, जो केवल मिहनत का हिस्सा लेते हैं। लाभ-हानि में हिस्सा की दर तय कर ली जाती है। सम्मिलित स्वामित्व और सम्मिलित संचालन और सम्मिलित उत्तर-दायित्व रहता है। यह साम्बेदारों के 'क्लब'-जैसा है। इसके कई रूप होते हैं। यह उन व्यवसायों के लिए अच्छा है जो साधारण पूँजी से चलाये जाते हैं। इसमें श्रम-विभाजन होता है। इससे शक्ति, गति और लोच आती है। कभी-कभी अपने होशियार कर्मचारी को भी साम्बेदार बनाया जा सकता है। यह एक वैयक्तिक संगठन है। जब साम्बेदारों में एकता नहीं होती तब काम ठीक नहीं चलेगा। छुट से अधिक साम्बेदार होने पर यह बोझिला हो जाता है। 'टीम

स्पीरिट' के अभाव में हानि होगी। इसमें स्थिरता नहीं, क्योंकि एक साफ़ेदार के हटने, मरने, पागल हो जाने, आदि से सारी साफ़ेदारी ख़द हो जाती है और नए सिरे से उठे बनाना पड़ता है। इसमें "असीमित दायित्व" रहता है जिसका मतलब है कि कोई कर्जदाता किसी समर्थ-सम्पन्न साफ़ेदार से सारा कर्ज वसूल सकता है। बाद में वह साफ़ेदार कचहरी में नाखिश कर अपने साफ़ेदारों से जितना अधिक रुपया दिया है, वसूल सकता है। कभी "सोनेवाले साफ़ेदार" भी एक-दो निकल आते हैं जिनका संचालन में कोई भी चाव नहीं रहता और उन्हें उनके चल्ता-पुर्जा साथी खूब ठगते हैं। एक सीमित साफ़ेदारी भी होती है जिसमें हर साफ़ेदार का दायित्व उस की लगाई पूँजी के अनुपात में सीमित रहता है।

पूँजी जमा करने का एक दूसरा तरीका है "उधार लेना"। समाज में ऐसे कुछ लोग रहते हैं जिनके पास पूँजी तो रहती है लेकिन जो उसका खुद उपयोग करना नहीं जानते या बुजदिल होने के कारण नहीं चाहते। ऐसे लोग दूसरे व्यवसायियों को उधार देते हैं। एक कानूनी शर्तनामा उनके बीच होता है। वे व्यवसाय के हिस्सेदार न होकर कर्जदाता बन जाते हैं (बोन्ड होल्डर या डिबेन्चरर) और स्थिर दर पर सूद पाते हैं। वे भी "सोनेवाले साफ़ेदार" की तरह होते हैं जो संचालन में भाग नहीं लेते। लेकिन जहाँ 'उनका' सूद निश्चित रहता है वहाँ 'इनका' साफ़ेदारी का हिस्सा अनिश्चित। कौन व्यवसायी कितना उधार ले सकता है वह उसकी साख पर निर्भर करता है।

नोट:—छोटे पैमाने के फर्मों के जीवित रहने के कारणों पर विचार करते समय हमें उक्तकथित व्यवसायों के गुणों का विवेचन करना होगा। चूँकि यह पुनरावृत्ति होगी, इसलिए हम यहाँ कुछ नहीं लिख रहे हैं।

सन् १८५० तक इंग्लैंड में पूँजी एकत्र करने और बढ़ाने के दो ही मार्ग किसी फर्म के सामने थे—(१) साकेदारी और (२) कर्ज लेना। इससे मुश्किलें होती थीं। कम्पनियों के निर्माण से ये बहुत अंशों में दूर हो गई हैं। संयुक्त पूँजी कम्पनी एक कानूनी संस्था है। कम्पनी के नाम में किसी पर मुकद्दमा हो सकता है या कोई उसमें मुकद्दमा लड़ सकता है। सरकारी स्वीकृति लेकर कुछ लोग इसका (निर्माण करते हैं। पूँजी शेयरों की बिक्री ऑर्डिनरी, प्रेफरेन्शियल और फुल्लेटिव) और कर्ज लेकर (बॉन्ड या डिबेन्चर बेचकर) जमा की जाती और लगाई जाती है। शेयर होल्डरों को डिविडेन्ड और बोल्ट होल्डरों को निश्चित सूद दिया जाता है। शेयर होल्डरों द्वारा निर्वाचित डाइरेक्टरों का बोर्ड या कोर्ट कम्पनी की देख-रेख करता है। सहायता के लिए वैतनिक मैनेजर रखे जाते हैं। कम्पनी की उद्योग-प्रणाली किसी दूसरे बृहत या सामान्यता बृहत उद्योग की प्रणाली जैसी रहती है। कम्पनियों के दो भेद होते हैं—वैयक्तिक जिनमें ५० या ५० से कम शेयर होल्डर रहते हैं और जिनको अपने बही-खाता प्रकाशित कराने का बन्धन नहीं रहता, और सार्वजनिक कम्पनियाँ—जिनमें ५० से अधिक चाहे जितने भी शेयर होल्डर हों रहेंगे और इनको अपने बही-खाते प्रकाशित कराने का बन्धन रहता है।

लोग शेयर होल्डर इसलिए बनना चाहते हैं कि उसमें सीमित दायित्व रहता है, शेयरों के हस्तान्तर में कोई कठिनाई नहीं रहती, पूँजी की सुरक्षा रहती है, संस्था का स्थायित्व रहता है, शेयरों के वर्गीकरण के साथ जोखिमों का भी वर्गीकरण हो जाता है, और शेयर के अनुपात में निबंधनाधिकार भी मिला रहता है।

संयुक्त पूँजी की कम्पनियों के अनेकों गुण हैं—बड़ी पूँजी आसानी से मिल जाती है, सीमित दायित्व रहता है जिससे शेयर होल्डर कम्पनी के फेल या कर्जदार हो जाने पर उतने ही का देनदार है

जितनी पूँजी का उसने शेयर खरोदा है और उसे अपनी निश्चित मुद्रा को अनिश्चित मुद्रा के पीछे फँकना नहीं पड़ता, छोटी-छोटी वचतों का सदुपयोग छोटी रकमों के शेयरों को खरीद कर हो सकता और इसमें गर्वानुभूति है, शेयर हस्तान्तर किए जा सकते हैं, स्टॉक बाजार में उनकी खुलेआम खरीद-विक्री होती है, डाइरेक्टर अदम्यपूर्ण कुछ कार्य भी कर सकते हैं, वैज्ञानिक खोज-पड़ताल में कुछ पूँजी लगाई जा सकती है, संस्था स्थायी होती है जिससे शेयर होल्डर अपने उत्तराधिकारी पहले से तय कर देते हैं, नये होशियार शेयर होल्डरों के आने से कम्पनी में नया खून आता है, अधिकार में प्रजातंत्र है—जितना शेयर, उतना वोट, दायित्व का केन्द्रीयकरण होता है—कम्पनी के नाम में ही कोई उधार ले-दे सकता है।

लेकिन कम्पनियों में यदा-कदा कुछ अवगुण भी आ जाते हैं—डाइरेक्टरों का चुनाव होता है और चुनाव में तिककड़म वाले अधिक जीतते हैं, मामूली शेयर होल्डर की दिलचस्पी कम्पनी के संचालन में नहीं रहती, उसे उसका डिविडेन्ड मिलता रहना चाहिये, फिर वह कई कम्पनियों में अपनी पूँजी रूपी अंडे बिखरे हुए हैं, इससे उसका अनुराग किसी एक कम्पनी पर नहीं रहता, वह 'सोनेवाले साकेदार' की तरह होता है, 'टीम स्पीरिट' का अभाव हो सकता है, शेयरों के हस्तान्तर से सट्टे-बाजी जोर पकड़ती है जिससे व्यवसाय को नुकसान पहुँचता है, नियंत्रण में ढीला होगा, क्योंकि डाइरेक्टर भी कई कम्पनियों में संबंधित होते हैं, वे डाक्टर और वकील अधिक होते हैं, इसलिये उन्हें व्यवसाय का ज्ञान उतना नहीं रहता, कर्मचारियों की नियुक्ति में पक्षपात होता है, "जलमिश्रित पूँजी" की आशंका रहती है (जिससे झूठ-मूठ मुनाफा का विज्ञापन होगा और कम्पनी के प्रोत्साहकों को बिना पूँजी दिए ही शेयर, और उनपर डिविडेन्ड, दिये जा सकते हैं) शेयर होल्डर और बोनड होल्डर के स्वार्थ प्रतिकूल होते हैं, स्वामित्व

और निश्चय से वियोग बढ़ता जाता है और आगे चलकर जो प्रजा-तन्त्रात्मक संस्था थी वह कछेक व्यक्तियों के हाथ का खिलौना बन जा सकती है जब वे चालवाजी से समूची कम्पनी की पूँजी पर अधिकार कर लेंगे ।

लेकिन सिद्धान्त में इतने अवगुण हैं, व्यवहार में उतने नहीं । इधर इन कुरीतियों को रोकने के लिए कुछ कानून और नियम बनाये गये हैं । सार्वजनिक कम्पनियों को अपने हिसाब-किताब को प्रकाशित कराना होता है । और गलत ढंग से पूँजी लेने पर डाइरेक्टरों को दंड देना पड़ता है । कम्पनियों का दूसरा नाम प्राइवेट कॉरपोरेशन भी है । यह आधुनिक व्यावसायिक जगत् में सबसे अधिक लोकप्रिय संस्था है ।

एकाधिकार—मोनोपोली—की परिभाषा हम पीछे दे आये हैं । यहाँ उनके प्रभावों पर विचार करना है । लेकिन इसके पहले जान लेना चाहिये कि उनके वर्ग कौन-कौन हैं । ये चार हैं—प्राकृतिक (कच्चेमाल जैसे जूट, शीश, मैगनीज, आदि का एकाधिकार किसी-किसी देश को होता है), कानूनन सरकार द्वारा पेटेंट राइट पाकर बने एकाधिकार), सार्वजनिक या सामाजिक (सरकार द्वारा चलाये जानेवाले सार्वजनिक उपयोगिता की सेवाएँ (जैसे जल, गैस, बिजली, यातायात-आवागमन, सिक्का, डाक-तार, आदि) और ऐच्छिक (इनमें समन्वय आते हैं जो नैतिज या शीर्ष हो सकते हैं । इनके बारे में हम पीछे बता आये हैं । इनके मुख्य रूप ये हैं—ट्रस्ट, कार्टेल, पूल, रिंग, कॉरनर, होल्डिंग कम्पनी, इन्टर लॉकिङ्ग ऑफ डाइरेक्टरेट) । एकाधिकार के प्रभावों पर उत्पादन, उपभोक्ताओं और मजदूरों के दृष्टिकोण से विचार करना अच्छा होगा ।

उत्पादन पर एकाधिकारों के निम्नलिखित प्रतिकूल प्रभाव पड़ते हैं—चूँकि यह बड़ा व्यवसाय होता है, इसलिये इसमें अधिक विशिष्टीकरण और प्रमाणीकरण की गुंजाइश होने से वृहत् उत्पादन की वृद्धि होती है और निपुणता बढ़ती है । बाजार की निश्चयता रहती

है। यातायात-खर्च (कौस-हॉलिंग) विज्ञापन-खर्च में बचत होती है और फर्मों के समन्वय होने से कुछ कमजोर फर्म भी जीवित रह सकते हैं। रोजी और कीमतों और मजदूरी में अपेक्षाकृत दृढ़ता या स्थिरता रह सकती है और जानकारी तथा पेटेन्टों के ऊपर स्वत्व रहता है। लेकिन एकाधिकारों का सामाजिक उत्पादन पर अप्रतिकूल प्रभाव भी पड़ता है, क्योंकि वे आगे चलकर दकियानुस बन जाते और टेक्निक-संबंधी सुधार करके अपनी निपुणता को बढ़ाकर आदर्श अधिकतम विस्तार प्राप्त नहीं करते और नए फर्मों को नहीं आने देते। चूंकि कोटा के आधार पर सदस्य फर्म उत्पादन करते हैं, इसलिए उनमें से किसी में फिजूल सामर्थ्य की बरबादी होती है और कोई अपनी पूरी सामर्थ्य से कम सामर्थ्य पर काम करता है जिससे समाज को लाभ नहीं होता। किसीमें आवश्यकता से अधिक तो किसी में आवश्यकता से कम उत्पादन के साधन लगते हैं जिससे समसीमान्त उपयोगिता नियम के अनुसार प्रत्येक उत्पादन-साधन की अन्तिम इकाई की उत्पादकता प्रत्येक उपयोग में समान नहीं होने से सर्वाधिक सामाजिक लाभ नहीं होता, शुरु में उनको अपने प्रतियोगियों को निष्कासित करने के निमित्त गलाघोंटी प्रतियोगिता करनी पड़ती है, व्यवहार में रोजी और कीमत और मजदूरी में संभवनीय स्थिरता नहीं रहती है और कभी एकाधिकार का विस्तार असंभालनीय हो जाता है।

उपभोक्ताओं को वैयक्तिक एकाधिकारों से कुछ अंशों में फायदा होता है। वह उस समय जब वे गरीबों से कम और धनिकों से ज्यादा दाम अपनी चीज का लेते हैं, जब वे दाम को सबके लिए कम रखते हैं, क्योंकि वे ऐसा कर सकते हैं, जब सार्वजनिक उपयोगिता के द्योग-बंधे सरकार द्वारा एकाधिकारात्मक आधार पर चलाए जाते और इन सेवाओं के लिए रियायती दाम लिये जाते हैं। लेकिन वैयक्तिक एकाधिकारों से उनको क्षति भी होती है, क्योंकि वे कभी-कभी उनकी "बचत" को दाम बढ़ाकर या पूर्ति घटाकर हड़पने लगते हैं,

जब वे चीजों और सेवाओं के गुण को खराब कर देते और साधारण-तया वे दाम उस दाम से अधिक ही लेते हैं जो प्रतियोगिता के तत्वाधान में संभव है ।

मजदूरों पर एकाधिकारों का प्रभाव प्रतिकूल उस हालत में पड़ता है जब वे उत्पादन और दाम को स्थिर रखकर रोजी की मात्रा और मजदूरी की दर भी स्थिर रखते हैं और उनकी भलाई का खयाल करके व्यापारिक धूम की अवधि में कुछ कम लेकिन व्यापारिक मन्दी की अवधि में कुछ अधिक मजदूरी देते हैं, लेकिन हम जानते हैं कि वे किसी कोटि के श्रम के एकान्त क्रेता—मोनोप्लोनिस्ट—भी हैं । अतएव उनको कम मजदूरी (जो उनकी सीमान्त उत्पादकता का मापक नहीं) देने पर विवश कर सकते हैं ।

सामाजिक दृष्टिकोण से भी हम उनके परिणामों के ऊपर विचार कर सकते हैं । एकाधिकार समाज में जो आर्थिक विषमता रहती है उसको बढ़ा देते हैं, क्योंकि उनमें आय एवं पूँजी का केन्द्रीयकरण हो जाता है, वे अधिक बेकारी और उत्पादन के हास के लिए जिम्मेदार हैं, वे राजनैतिक भ्रष्टाचार-वृद्धि, आदि के दोष से भी कलुषित होते हैं और अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति-पातन से तो कितने देश के नए रोजगार नष्ट हो ही जाते हैं । [नोट—संयुक्त पूँजी कम्पनियाँ और एकाधिकारों के जो लाभ-हानि हैं वे ही वृद्धि-गैरमाने के उद्योग-धंधों के लाभ हानि हैं । इसलिए हमने उनकी पुनरावृत्ति नहीं की है ।]

उत्पादन के क्षेत्र में सरकार का हस्तक्षेप

हम देखते हैं कि २० सदी के आरंभ से एकाधिकारियों और समन्वयों के कब्जे में व्यावसायिक क्षेत्र फैसता जा रहा है । इससे भयंकर परिणाम निकलते हैं । यथार्थ आय—अर्थात् चीजों और सेवाओं की उत्पत्ति—उत्पादन के साधनों के विविध उद्योग-धंधों में लगते और खटने से मिलती है । जब पूर्ण प्रतियोगिता रहती है, जब संहारक विज्ञापनवाजी नहीं होती तब ऐसा संभव है कि उत्पादन

एकाधिकारों और अन्यान्य उद्योगों का सरकार द्वारा नियन्त्रण

सरकारी नियन्त्रण या नियमन जिसमें आधिपत्य एकाधिकारों या उद्योगों के हाथों में रहेगा मगर नियन्त्रण सरकार का अधिक रहेगा ।

सरकारी संचालन (आधिपत्य और नियन्त्रण दोनों) - यह राष्ट्रीयकरण के बराबर होगा ।

विधेयात्मक नियन्त्रण
(१) चीज की अधिकतम कीमत निश्चित करके (२) चीज के उत्पादन की मात्रा निश्चित कर देना (३) जो नहीं बरतते उन्हें कड़ी सजा देना, लेकिन उद्योगपति चीज के गुण को कम कर चकमा दे सकते हैं (४) राशिपातन और बुरे विवेचन एकाधिकार को सजा देना (५) कानून बनाकर कुछ तरहों के एकाधिकार को पैदा होने से रोकना (६) वास्तविक प्रतियोगिता को सशक्त बनाना (७) सम्भावित प्रतियोगिता को अनुप्रेरित करना (८) दाम और गुण का प्रचार-प्रकाशन करना-कराना ।

निषेधात्मक नियन्त्रण
(१) अवैध और अनुचित दाम लेने पर सजा देना लेकिन अवैध और अनुचित की परिभाषा करना कठिन है !

(१)	(२)
कमीशन या सरकारी विभागों द्वारा	सोद्देश्य बौद्धों या सार्वजनिक कॉरपोरेशनों द्वारा

दूसरा तरीका पहले तरीका से तीन कारणों से अन्वष्टा है :—(१) सरकारी पदाधिकारियों—आई० सी०एस० और आई० ए० एस०—में से अधिकांश को आर्थिक एवं व्यावसायिक ज्ञान कम रहता है (२) राजनैतिक शासन-क्षेत्र और आर्थिक शासन-क्षेत्र में फर्क है और पहले आधार पर दूसरे का काम नहीं चला सकता (३) दलीय सरकार में सरकार बोट जीतने के ध्येय से भी प्रेरित होगी इससे आम जनता की आस्था कम होगी ।

राष्ट्रीय पूंजी या सम्पत्ति

वास्तविक रूपों में किसी देश की राष्ट्रीय पूंजी “किसी समय” (एक वर्ष में) उस देश के सभी व्यक्तियों और वैयक्तिक और सार्वजनिक सभी तरह की संस्थाओं, सरकार या सरकारों के खालिस प्रणीधियों अर्थात् पूंजी-सामानों का योगफल है । मौद्रिक रूपों में वह इस योगफल के मौद्रिक मूल्य के बराबर होती है । व्यक्तियों के पास की पूंजी में कौन-कौन-सी चीजें आयेंगी ? उत्तर—निम्नलिखित चीजें—भूमि, (खेत-खलिहान, जंगल, खानें मछलीगाह, आदि), मकान, घर-द्वार, टिकाऊ-प्रयोग दूसरी उपभोक्ता-वस्तुएँ, औजार, आदि, सरकार को दिये ऋण के बदले में मिली सरकारी ऋणपत्र, प्रतिभूतियाँ, वैदेशिक पूंजी-विनियोग, वैदेशिक शेयर, बोन्ड, आदि ; वैयक्तिक संस्थाओं—फर्म, बैंक, आदि—की चीजें—मकान, भूमि, औद्योगिक और वाणिज्य पूंजी, प्लान्ट और औजार, सरकार को दिये ऋण, व्यक्तियों से प्राप्त जमानतें, अगर सोना-चाँदी है तो उन्हें भी प्रवहनमान या कार्यरत पूंजी, रिजर्व स्टॉक, आदि ; सार्वजनिक संस्थाओं (सार्वजनिक कॉरपोरेशनों, म्युनिसिपैलिटियों, लोकल और डिस्ट्रिक्ट बोर्डों, प्रान्तीय और केन्द्रीय सरकारों, स्कूल, कॉलेज, अस्पताल, मन्दिर-मस्जिद-गिरजाघर, म्युजियम, टॉउनहॉलस, आदि) के पास भी अग्रलिखित चीजें हो सकती हैं—भूमि, मकान, मशीनें, प्लान्ट, आदि, उद्योग-शालाएँ, सोना-चाँदी, विदेशी सिक्काएँ, प्रभृति । ये भी राष्ट्रीय पूंजी में आयेंगी ।

यही राष्ट्रीय पूंजी की गणना की विधि है । लेकिन इसमें कुछ गुत्थियाँ-स्नेग्स-हैं । एक चीज से आसानी भी होती है । वह यह है कि वैयक्तिक संस्थाओं—फर्म, आदि—की पूंजी और दायित्व दोनों बराबर होते हैं और इसलिए वे कट-छूटकर खालिस पूंजी के रूप

में शून्य के बराबर होते हैं। उनको जोड़ना “द्वैत-गणना” (डब्ल काउन्टिङ्ग) होगी। वैयक्तिक संस्थाएँ व्यक्तियों की कृति होती हैं और उनके पास वही पूँजी रहती है जो व्यक्तियों से मिली होती है। सबसे पहली गुत्थी वैदेशिक-विनिमय या व्यापार-प्रत्यक्ष चीजों और अप्रत्यक्ष-सेवाओं के आयात तथा निर्यात के कारण होती है। आजकी दुनिया के सभी देश बन्द (क्लोज्ड) अर्थ-प्रणाली न होकर खुली (ऑपन) अर्थ प्रणाली हैं। एक देश के निवासी दूसरे देश के व्यवसायों में अपनी पूँजी लगाते हैं और इससे उनको प्रतिवर्ष सूद और डिविडेन्ड मिलता है। उसी तरह विदेशवाले उनके यहां के व्यवसायों में अपनी पूँजी लगाये रहते हैं, और देश से उनके पास सूद और डिविडेन्ड जाते हैं। इसके साथ वास्तविक वस्तुओं अर्थात् कुछ पूँजीगत सामानों का आयात-निर्यात भी देश के बीच होता है। अतएव सूद तथा डिविडेन्ड के आयात एवं निर्यात के अन्तर को और पूँजी सामानों के आयात-निर्यात के अन्तर को अधिक (कम) होने पर केवल उसी देश को जो कुल पूँजी होगी उसमें जोड़ (घटा) देने पर हमें उस देश की “खालिस” पूँजी मिलेगी। दूसरी गुत्थी राष्ट्रीय ऋण के कारण है। किसी भी देश की सरकार के ऊपर लोगों से, निजी संस्थाओं से लिया हुआ कर्ज लदा रहता है। इसे आन्तरिक राष्ट्रीय ऋण कहते हैं। जहां तक इसका प्रश्न है वहाँ तक कोई कठिनाई नहीं, क्योंकि इसको हम खालिस पूँजी पाने के लिये चाहे तो सरकार के कर्ज के रूप में रखेंगे जब कि हमने उसकी वास्तविक पूँजी को जोड़ लिया है या जब हम उसमें से उतना घटा लिये हैं तो उसको वैयक्तिक संस्थाओं और लोगों की पूँजी में हम रखेंगे। लेकिन सरकार विदेशीय ऋण भी लिये होती है और उसपर सूद देती है। वैसे दशा में तो हमें विदेशीय ऋण और सूद की रकम के योगफल को सरकार (देश) के ऋण के रूप में रखना होगा जिससे देश की खालिस पूँजी उस परिमाण में कम हो जायगी।

यही कारण है कि सरकारी संस्थाओं की खासिस पूँजी ऋणात्मक होती है। तीसरी गुंथी वास्तविक पूँजी-सामानों के मूल्यांकन करते समय होती है। इनका मूल्यकरण दो आधारों पर हो सकता है— वार्षिक मूल्यों और पूँजीकृत मूल्यों के आधार पर। वार्षिक मूल्यों का मतलब है कि किसी पूँजीगत-सामान का जो भाड़ा एक साल में मिलता है उसको ही सम्मिलित किया जाय। ऐसा करने से तो समूची राष्ट्रीय पूँजी का मूल्य बहुत ही कम होगा। लेकिन हम जानते हैं कि कोई पूँजी-वस्तु एक ही साल में खत्म नहीं हो जाती, वह कुछ सालों तक जब तक उसको जिन्दगी है, चलती है। अतएव खासिस राष्ट्रीय पूँजी में उसके पूँजीकृत मूल्य को रखना युक्तियुक्ति प्रतीत होता है। पहले हम यह देखेंगे कि कौन पूँजी-वस्तु कितने वर्षों तक चलेगी, उसकी मियाद क्या है और तब एक वर्ष में उसके लिए जो किराया या भाड़ा मिलता या मिल सकता है उसकी संख्या से उस अवधि के साथ गुणा कर देंगे और इस तरह जो गुणफल-मूल्य मिलेगा उसको ही जोड़ेंगे। ऐसा ही किसी देश की राष्ट्रीय पूँजी को कृतते समय किया भी जाता है। लेकिन पूँजीकृत मूल्य निकालना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि यह मनमाना हो सकता है, पूँजी का स्वामी अधिक दाम लगाएगा, गणक दूसरा और तीसरा आदमी तीसरा ! लेकिन चारों ही क्या है ? अभी तक हम भौतिक पूँजी के बारे में सोचते रहे हैं। क्या मानवीय पूँजी—नर-नारी—को हम राष्ट्रीय पूँजी में नहीं शामिल कर सकते ? शामिल करना चाहिए, यही हमारी पहली प्रतिक्रिया होती है लेकिन ऐसा करना कितना कठिन होगा ? इसका अनुमान आप सहज ही लगा सकते हैं। किसी की प्रियतमा का मूल्यांकन कौन करेगा ?

राष्ट्रीय पूँजी बनाम राष्ट्रीय उत्पत्ति

इन दोनों में ये समताएँ हैं—(१) दोनों काफी मात्रा में वस्तुओं के समूह हैं, लेकिन इन वस्तुओं की प्रवृत्ति भिन्न होती है।

(२) कुछ टिकाऊ-प्रयोग वस्तुएँ दोनों में सम्मिलित होती हैं । (३) दोनों को हम मुद्रा के रूप में प्रकाशित करते हैं । लेकिन दोनों में कुछ असमानताएँ भी हैं—(१) राष्ट्रीय पूँजी में सेवाएँ नहीं आती, लेकिन राष्ट्रीय उत्पत्ति वे, जो विनिमयगत हैं, आती हैं । (२) राष्ट्रीय पूँजी में वे ही चीजें सम्मिलित की जाती हैं (घर, आदि) जो किसी क्षण (प्वाएन्ट ऑफ टाइम) के वर्तमान “रहती हैं” जहाँ कि राष्ट्रीय उत्पत्ति में वे वस्तुएँ (जैसे, घर और रोटी) आती हैं जो किसी अवधि (पीरिअड ऑफ टाइम) में “उत्पन्न की जाती हैं ।” (राष्ट्रीय) पूँजी को नापने के लिये किसी समय पर अर्थ-प्रणाली के नीरव चित्र अथवा एक तत्क्षण ‘फ्लैस फोटो’ लेना होगा ! (राष्ट्रीय) आय को नापने के लिये किसी समय के अभ्यन्तर एक ‘मूभिङ कैमरा’ की जरूरत पड़ेगी !!

राष्ट्रीय पूँजी बनाम राष्ट्रीय आय

दोनों को कृतते समय हम वैदेशिक प्रदायों—आयात-निर्यात तथा सरकारी आय-व्यय पर विचार करते हैं, लेकिन जहाँ राष्ट्रीय पूँजी में किसी एक वर्ष में जो पूँजीगत अर्थात् टिकाऊ-प्रयोग वस्तुएँ रहती हैं, या बाहर से आती हैं उन्हें ही समन्वित करते हैं वहाँ राष्ट्रीय आय में हमें किसी वर्ष में जो पूँजीगत और उपभोक्ता-वस्तुएँ और विनिमयगत सेवाएँ तैयार होती हैं और जो आय बाहर भी वस्तुओं और सेवाओं से प्राप्त होती है उन सभी को रखना पड़ता है । पहले में पूँजीकृत मूल्य और दूसरे में वार्षिक मूल्य मापदंड माने जाते हैं । इन कारणों से राष्ट्रीय पूँजी राष्ट्रीय आय से अवश्यमेव बहुत अधिक होगी, लेकिन ‘बहुत अधिक’ को निरपेक्ष रूप से हम कै न बतायेंगे ?

राष्ट्रीय या सामाजिक आय

किसी वर्ष में किसी देश में जो राष्ट्रीय आय होती है वह उस वर्ष

में तैयार हुई खालिस भौतिक तथा अभौतिक वस्तुओं और विनिमय-गत सेवाओं के मौद्रिक मूल्यों का योगफल है। कुछ लोग इस परिभाषा को नहीं मानते और वे कहते हैं कि राष्ट्रीय आय वार्षिक खालिस उपज का वह भाग है जो उस वर्ष में प्रत्यक्ष रूप से उपभुक्त होती है। पहले स्कूलवाले उत्पादन-पक्ष को ग्रहण करते हैं, दूसरे स्कूलवाले उपभोग-पक्ष को। अगर पहली जनवरी १९५२ में कोई मशीन बने जिसका मूल्य २५ हजार रुपया हो और जो २५ वर्ष चलने वाली है और अगर उसका उपयोग सालभर १९५२ में हो तो १९५२ की राष्ट्रीय आय में पहले स्कूल के अनुसार १ हजार रुपया, जितने

के बराबर उसका उपयोग हुआ है = $\left(\frac{२५ \text{ हजार}}{२५ \text{ वर्ष}} \right)$, उसके समूचे

मूल्य २५ हजार में घटाकर २४ हजार रखेंगे। दूसरे स्कूल के अनुसार केवल १ हजार रुपया रखा जायगा। चूँकि उपभोग के आँकड़े उत्पादन के आँकड़ों से बहुत अधिक दिक्कत से मिलते हैं, इसलिये लगभग सभी देशों में पहले उपाय के अनुसार राष्ट्रीय आय की गणना होती है।

राष्ट्रीय आय देश के उत्पादन के साधनों की उपज है और वह उनके पारिश्रमिकों का एक जरिया भी है। ऐसा नहीं होता कि उत्पादन के साधन सहयोगपूर्वक काम करके सालभर राष्ट्रीय आय तैयार करें और तब अन्त में अपना-अपना हिस्सा बाँटकर उपभोग करें। राष्ट्रीय आय तैयार होती जाती है और उसका उपभोग भी सालभर चलता है जिससे साल के अन्त में केवल अन्तिम साधन मात्र रह जाता है। देश 'त्रिशंकु' नहीं बनने पाता ! (देखिये "सामाजिक उत्पत्ति" का परिच्छेद)

राष्ट्रीय आय एक लयपूर्ण वस्तु है। यह सभी साधनों के संयुक्त प्रयासों की संयुक्त उपज है, अतएव हम ठीक-ठीक नहीं बतला सकते

कि उसके अमुक-अमुक भाग को अमुक-अमुक उत्पादन-साधन ने तैयार किया है। हम तो पीछे ही देख चुके हैं कि उत्पादन के चार साधन हैं। राष्ट्रीय आय में चारों के सहयोग की आवश्यकता है। अतएव यह कहना ग्राह्य नहीं कि श्रम ही सभी आय का जनक और मापक है। कई वर्षों पूर्व एक अर्थशास्त्री ने बड़े ही मार्मिक ढंग से बतलाया था कि यदि पति-पत्नी इस बात पर झगड़ा करें तो यह बेवकूफी होगी कि उनकी नवजात संतान का अमुक भाग पति से निकला)के प्रयास का और अमुक भाग पत्नी (से निकला) के प्रयास का परिणाम है ! यह दूसरी बात है कि वे इस बात पर राय कर लें कि वह संतान किसके पड़ी है !! अतएव हम राष्ट्रीय आय में किस उत्पादन-साधन को कितना हिस्सा मिलना चाहिये, इसका ठीक-ठीक मूल्यांकन-मैलूएशन-नहीं कर सकते, लेकिन हम स्थूल रूप से, मोटा-मोटी यह बतला सकते हैं कि अमुक उत्पादन-साधन की प्रत्येक इकाई को कितना भाग राष्ट्रीय आय का दिया जा सकता है—(इम्प्यूटेशन।)

वितरण का सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त अर्थात् उत्पादन के साधनों के मूल्यकरण का सिद्धान्त

यही वह सामान्य सिद्धान्त है जिसके बूते पर हम किसी उत्पादन-साधन को कितनी राष्ट्रीय बाँट—डिविडेन्ट या रेवेन्यू—मिलनी चाहिये, बतला सकते हैं। यह बताता है कि प्रत्येक उत्पादन-साधन का पारिश्रमिक उसकी सीमान्त उत्पादकता के बराबर होने की प्रवृत्ति रखता है। जिस बिन्दु पर किसी साधन का मूल्य उसकी सीमान्त उपज के मूल्य के बराबर होता है, वही संतुलन बिन्दु है। किसी साधन की जो अन्तिम उपयुक्त इकाई है उसीको सीमान्त इकाई और वह 'समस्त उपज' में जो उपज जोड़ती है उसको 'सीमान्त उपज' कहते हैं। किसी उत्पादन-साधन की सभी इकाइयों को उतना ही दाम दिया

जाता है जितना सीमान्त इकाई को दिया जाता है, क्योंकि सभी इकाइयों (भले ही वह सीमान्त हो) समान रूप से निपुण होती है। किसी साधन की इकाई की सीमान्त उत्पादकता को हम अन्य तीन साधनों के परिमाणों अथवा इकाइयों की संख्याओं को सुस्थिर रखकर केवल उसी साधन की समूची इकाइयों की संख्या में केवल एक इकाई बढ़ाकर देखेंगे कि उसके कारण सम्पूर्ण उपज में कितनी वृद्धि होती है और जितनी वृद्धि होती है वही उस इकाई की उपज है और बाजार में उसको बेचने पर जो आय होगी उसके बराबर (या कम भी) उसको वेतन दिया जायगा और उसको जो वेतन दिया जायगा वही उसकी अन्य इकाइयों को दिया जायगा। इसी तरह हम अन्य उत्पादन-साधनों की सीमांत भी उत्पादकता निकाल सकते हैं।

वस्तुओं का मूल्यकरण सिद्धान्त बनाम उत्पादन-साधनों

का मूल्यकरण सिद्धान्त

अब यहाँ वस्तुओं या चीजों के मूल्यकरण का जो सिद्धान्त है उसके साथ उत्पादन के साधनों या सेवाओं के मूल्यकरण के सिद्धान्त की तुलना कर लेना बुरा नहीं होगा। दोनों सिद्धान्तों में पाँच समताएँ हैं—(१) दोनों में हम मान लेते हैं कि इकाइयों स्वजातीय हैं जिससे प्रतिस्थापन सुगमतापूर्वक हो सकता है। (२) एक का मूल्य सीमान्त उपयोगिता के बराबर और दूसरे का मूल्य सीमान्त उत्पादकता के बराबर होता है। (३) एक में अधिक अधिक उपयोग से क्रमागत उपयोगिता ह्रास का नियम और दूसरे में क्रमागत उत्पत्ति ह्रास का नियम लागू होता है। (४) एक क्षेत्र में जब स्वर्च की हुई मुद्रा की अन्तिम इकाई का मूल्य हर मद में बराबर होता है तब अधिकतम संतोष मिलता है, दूसरे में जब प्रवृत्त किये गये प्रत्येक उत्पादन-साधन की अन्तिम इकाई की उत्पादकता समान होती है तब अधिकतम सुनाफा होता है। (५) एक में मूल्य केवल सीमान्त

उपयोगिता (माँग पक्ष) के ही बराबर नहीं होता बल्कि पूर्ण प्रतियोगिता की अवस्था में वह सीमान्त उत्पादन-व्यय (पूर्ति-पक्ष) के भी बराबर होता है, दूसरे में मूल्य केवल सीमान्त उत्पादकता (माँग-पक्ष) के ही बराबर नहीं होता बल्कि पूर्ण प्रतियोगिता की दशा में वह सीमान्त अनोपयोगिता (पूर्ति-पक्ष)—डिसयूटिलिटी—के बराबर भी होता है। लेकिन यह जान लेना चाहिये कि हम श्रम का मूल्यांकन वस्तु के मूल्यांकन की तरह नहीं कर सकते, क्योंकि उसमें उतना ही अंतर है जितना मानवीय और भौतिक वस्तुओं में है। एक को हम मुद्रागत व्यय और संभावित व्यय के जरिये समझा सकते हैं, लेकिन दूसरे को उसके जरिये समझाना मुश्किल होगा, उसके लिए वास्तविक व्यय की थोड़ी शरण लेनी ही पड़ेगी। (६) उपभोक्ता की वस्तुओं की मांग प्रत्यक्ष उपभोग के लिए होती है, परन्तु उत्पादन के साधनों की मांग प्रसूत (डिराइम्ड) इसलिये होती है कि वे अप्रत्यक्ष रूप से प्रत्यक्ष तथा उपभुक्त वस्तुओं को बनाने के लिए चाहे जाते हैं। (७) दोनों सिद्धान्त कुछ गूढ़ मान्यताओं—जैसे, पूर्ण प्रतियोगिता (पूर्ण रोजी, पूर्ण ज्ञान, उत्पादन के साधनों की पूर्ण गतिशीलता), पूर्ति और प्रतिस्थापन की पूर्ण लोच के ऊपर आधारित हैं। बाजार में अपूर्णताओं (इमपरफेक्शन्स), पिंडत्वों (रिजीडिटिज) और संघर्षों (फ्रिक्शन्स) के रहने पर—और आधुनिक बाजार में ये उपस्थित भी हैं—दोनों सिद्धान्त लागू नहीं होते। इनका अस्तित्व उपर्युक्त मान्यताओं को भंग कर देता है। संघर्षण दो प्रकार के होते हैं—(१) शीर्ष—उत्पादकों (उद्योगपति और मजदूर) और गैर-उत्पादकों (उपभोक्ता और सरकार) के बीच और (२) क्षैतिज—वर्गीय (श्रम एवं पूँजी के बीच)। सरकारी हस्तक्षेप जब व्यावसायिक क्षेत्रों में होता है तब वैयक्तिक प्रेरणा की गति स्वच्छन्द नहीं होती। सरकार तरह-तरह से उत्पादकों, उपभोक्त्यों और श्रमिकों के चयन-स्वातंत्र्य पर, उनकी आत्महित की भावना पर अंकुश लगाती है।

उक्त सिद्धान्त पूर्ण प्रतियोगिता, पूर्ण रोजी, पूर्ण गतिशीलता, उत्पादन के साधनों की सभी इकाइयों की स्वजातीयता, प्रतिस्थापन की पूर्ण लोच, साधनों की पूर्ति की पूर्ण लोच, और क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम के लागू होने की पूर्वमान्यताओं पर आधारित है। चूँकि ये वास्तविक जगत् में उपस्थित नहीं होते या हो सकते, इसलिये इस सिद्धान्त को केवल सैद्धान्तिक मान्यता अधिक है, व्यावहारिक मूल्य न्यून।

फिर, यह सिद्धान्त किसी साधन की मांगगत तालिका को प्रकट करता है, अर्थात् उसको मांगनेवाला उत्पादनकर्त्ता उससे कितनी उत्पादकता ग्रहण कर सकता है और किस दाम पर कितनी मांग कर सकता है। यह सिद्धान्त उसकी पूर्तिगत तालिका को अर्थात् किस-किस मजदूरी (दाम) पर कोई साधन अपनी कितनी पूर्ति कर सकता है नहीं बतलाता। जबतक हम दोनों पक्षों के ऊपर विचार नहीं करते तबतक हम किसी उत्पादन साधन के पारिश्रमिक को कभी भी ठीक-ठीक नहीं निकाल सकते। हम आगे चलकर 'मजदूरी' शीर्षक अंश में बतलाएँगे कि इस कथन की सार्थकता कितनी है। हम वस्तुओं के मूल्यकरण सिद्धान्त में देख चुके हैं कि सामान्य रूप से मूल्यकरण पूर्ति एवं मांग रूपी धारों (किसी कैंची की दो धारों) के पारस्परिक सहयोग-प्रधान, घात-प्रतिघात, क्रिया-प्रतिक्रिया से होता है, भलेही किसी अद्वि में किसी धार का प्रभाव अधिक हो और किसी धार का प्रभाव कम, और अवधि में पहली धार का प्रभाव कम और दूसरी धार का प्रभाव अधिक हो सकता है। उसी तरह हमें यह जान लेना चाहिए कि किसी उत्पादन-साधन का मूल्यकरण उक्त कथित दो तालिकाओं के घात-प्रतिघात से होता है। मांगरूपी धार (सीमान्त उत्पादकता और मजदूरी की उपयोगिता) जिस बिन्दु पर पूर्तिरूपी धार (श्रम की अनोपयोगिता, पारिश्रमिक का एक मानस-चित्र, मोल-मोलाई की शक्ति, श्रम-पूर्ति की लोच की मात्रा, पारिवारिक दशाएँ और रहन-सहन, गति-शीलता, सरकारी मददों का मिलना या न मिलना, खासकर बेकारी

की हालत में जब कि मजदूर मनलायक काम उचित मजदूरी पर नहीं मिलने से काम नहीं करता और सरकार से बेकारी-बीमा प्राप्त करता है, मजदूर संगठन और उसकी शक्ति, आदि) को तराश-मेदेन करती है वहीं किसी साधन का पारिश्रमिक निर्धारित होता है। हमने श्रम को इसलिए यहाँ चुना है कि वह संगठन और पूँजी का भी प्रतीक है। हाँ, किसी वस्तु को क्रय करते समय हम जो उपयोगिता (दाम) परित्याग करते हैं वह उससे मिली उपयोगिता के बराबर होती है। उसी तरह से हर साधन का क्रेता-विक्रेता करता है।

राष्ट्रीय आय को आँकने के ढंग या पद्धतियाँ

राष्ट्रीय आय को आँकने के तीन ढंग हैं—(१) आयों की गणना का ढंग जिसे संक्षेप में आय-पद्धति कहते हैं। २) उपजों की गणना का ढंग जिसे उत्पत्ति-गणना-पद्धति (इनमेनट्री) कहते हैं। (३) व्यय पद्धति। नीचे हम तीनों ढंगों का सारांश दे रहे हैं।

आय-पद्धति द्वारा हम किसी देश में एक वर्ष में उत्पाद के साधनों को भीतर-बाहर जो मौद्रिक आयें होती हैं उनके योगफल को निकाल देते हैं, लेकिन हम खयाल रखते हैं कि उनमें “हस्तान्तर प्रदाय” कहीं गलती से सम्मिलित न हो जायँ, क्योंकि यह एक दोष होगा जिसको “द्वैत-गणना” कह सकते हैं। अगर हम मान लें कि देश में दो ही साधन पूँजी और श्रम हैं तब हम उनको जो कुल सूद (या मुनाफा) और मजदूरी मिलती है उन दोनों को जोड़कर समूची राष्ट्रीय आय प्राप्त कर सकते हैं। अगर हम मानते हैं कि नहीं, देश में उत्पादन के चार साधन—भूमि, पूँजी, श्रम और संगठन होते हैं जो किसी साल में राष्ट्रीय आय उत्पन्न करते हैं तब हमें सालभर में मिले उनकी कुल आयों (देश के भीतर-बाहर)—लगान, सूद, मजदूरी और मुनाफा—का योगफल निकालना होगा जो राष्ट्रीय आय के बराबर होगा। इस ढंग की यही संक्षिप्त रूप-रेखा

है। इसमें निम्नलिखित तत्व आयेंगे—मजदूरियाँ और उपरी आयें (जिनमें सामाजिक सुरक्षा लाभ आयेंगे), किसानों, डाक्टरों, साफेदारों, एक-प्रणोता व्यवसायवालों, आदि की खालिस आयें (जिन्हें अनइनकॉर्पोरेटेड खालिस आय कहते हैं), व्यक्तियों को मिले लगान (अपने मकान में रहनेवालों के मकानों का भी लगान कूतकर जोड़ा जायगा), सूद (जो वैयक्तिक बोनड, जमानतें और दूसरे ऋणों से मिलते हैं), डिविडेन्ड (जो ऑरडिनरी और प्रेफरेन्शियल शेयर-होल्डरों को दिए जाते हैं), अविभाजित डिविडेन्ड, कम्पनियों पर लगाए प्रत्यक्ष करों की रकमें। अगर हम इस तरह मिली रकम में अप्रत्यक्ष करों को भी जोड़ दें तो हमें खालिस राष्ट्रीय या सामाजिक उपज मिल जायगी। हम “हस्तान्तर प्रदायों” को जिनके कुछ नमूने आगे दिए जाते हैं नहीं जोड़ सकते क्योंकि वे राष्ट्रीय आय में कुछ जोड़ने के बदले में नहीं दिए जाते और न वे किसी व्यय-प्रदाय के ही सूचक हैं—वकील के किरानी की आय जो वकील अपनी आय से उसे देता है, उत्तराधिकार, इनाम, अविभावकों से प्राप्त छात्रों की माहवारी मुद्रा, पुराने मकान का विक्रय-मूल्य, सरकार के द्वारा दी रिलीफ की मददें, सरकारी बोनड पर मिले सूद। लेकिन अग्रलिखित प्रदायों को जोड़ा जाता है—प्रति-भूतियों पर डिविडेन्ड, दाई की कमाई, किसान को अपनी शाक-सब्जी बेचने से मिली रकम, बाहर से आई आय, प्रत्यक्ष सेवाएँ, उपभोक्ताओं की टिकाऊ-प्रयोग चीजों से आमदनी। हम पहले ही बता आए हैं कि उन सेवाओं को (जो तीन कोटियों की होती हैं) जो मुद्रा के रूप में क्रीत नहीं होतीं, हम राष्ट्रीय आय में नहीं रखते। यदि उनको रखा जाय तो किसी-किसी देश की राष्ट्रीय आय की रकम बढ़ जा सकती है लेकिन इससे हम नहीं कह सकते कि उसके अनुपात में राष्ट्रीय आर्थिक प्रगति या सुख भी बढ़ गई। राष्ट्रीय आय के दो रूप होते हैं—(१) कर लगाने के पूर्व की बेखालिस राष्ट्रीय आय

और (२) कर लगाने के बाद की खालिस राष्ट्रीय आय । दूसरा रूप अधिक महत्वपूर्ण है । आय-कर के कमीशनर देश की मौद्रिक आय में इनको भी शामिल कर लेते हैं:—(१) युद्ध-श्रृण पर सूद और (२) ग्रैच्यूट्स पेन्शन, लेकिन अर्थशास्त्री इनको नहीं सम्मिलित करते । यही कारण है कि दोनों के द्वारा निकाली राष्ट्रीय आय की रकमों में कुछ फर्क पड़ जाता है ।

उपजों की गणना की पद्धति—में उत्पादन की दृष्टि से हम राष्ट्रीय आय को कृतते हैं । इसकेअनुसार राष्ट्रीय आय व्ययों का योगफल या सभी उत्पन्न वस्तुओं और सम्पन्न सेवाओं का खालिस मुद्रागत मूल्य है । प्रत्यक्ष वस्तुओं के उदाहरण कैमेरा और फोनोग्राफ और सेवाओं के उदाहरण नर्तकी और जूता में पालिश लगानेवाली लड़की की सेवाएँ हैं । सच पूछिए तो हम भौतिक वस्तुओं की सेवाओं का ही उपभोग करते हैं । इस दंग की कुछ समस्याओं के ऊपर नीचे प्रकाश डाल रहे हैं—(१) द्वैत गणना की संभावना—ऐसा न हो कि हम एक रोटी का मुद्रागत मूल्य निकाल रहे हैं तब हम आटा का भी दाम और (या) गेहूँ का भी दाम जोड़ दें, अथवा गाय के एक सेर दूध का मुद्रागत मूल्य निकालते समय हम गाय जो भूसी खाती है उसका दाम भी जोड़ दें ! ये “माध्यमिक खर्च” तो “हस्तान्तर प्रदायों” की नाई हैं । यह इसलिए कि रोटी या दूध के दाम में उसके सभी व्यय सम्मिलित हैं । (२) पूँजीगत सामानों की उत्पादनजन्य विसावट या अवक्षयण के मुद्रागत मूल्य को जोड़ना जिससे “पूँजी ज्यों की त्यों बनी रहें” । कालजन्य हास—रैमेजेज ऑफ टाईम—और जंग के कारण जो विसावट होती है उसको हम गिनते हैं लेकिन पूँजी-क्षतियों (शासक के दुश्मन, दैवी प्रकोप, टिड्डियों, आदि से जो विसावट होती है) उसको नहीं गिनने । उसी तरह जो मशीन व्यवहार से उठ जाती है उसको

भी नहीं शामिल करते। हम मजदूर जो कपड़ा (और भोजन) पहन कर काम करते हैं उसकी घिसावट को भी नहीं जोड़ते। (३) अप्रत्यक्ष करों को भी नहीं जोड़ सकते क्योंकि वे चीजों की कीमतों में पहले से ही शामिल हो गए रहते हैं। (४) चीजों को जैसे दो टमाटर, तीन सेव के मुद्रागत मूल्य को निकालने के लिए बाजार-मूल्यों को स्वीकार किया जायगा। अगर उनके उत्पादकों की बात मानें तो वे बड़ा-चड़ाकर दाम बतायेंगे और कहेंगे कि साहब, हमारे टमाटरों या सेवों की तुलना बाजार के टमाटर या सेव से क्या आप कभी कर सकते हैं ! बाबू साहब, ये अनोखी-निराली चीजें हैं, सरकार !!

व्यय पद्धति के अनुसार राष्ट्रीय आय उपभोग और बचत अथवा उपभोग और खालिस पूँजी-विनियोग के योगफल के बराबर होती है। कुछ लोग कहते हैं कि वास्तविक राष्ट्रीय आय वास्तविक उपभोग और वास्तविक पूँजी-विनियोग की जोड़ के बराबर होती है। लेकिन इसके लिए जरूरी है कि हम उपभोग के लिए खुदरा-विक्री के आँकड़े और बचत के लिए विभिन्न स्रोतों से होनेवाली खालिस पूँजी-विनियोग का पता रखें। बचत उपभोग का विपरीतार्थक है, व्यय-स्पेन्डिंग—का नहीं क्योंकि पूँजी-विनियोग को भी हम व्यय कह सकते हैं। अगर ठीक से हम काम करें तो तीनों ढंगों से हम लगभग एक ही नतीज पर पहुँचेंगे।

किसी देश की आयोपार्जन-शक्ति को प्रभावित करने वाली

आन्तरिक और बाह्य शक्तियाँ

किसी देश की आयोपार्जन शक्ति को प्रभावित करने वाली आन्तरिक शक्तियाँ उस देश की उत्पादन-प्रणाली के विकास से उत्पन्न होती हैं और वे अग्रलिखित हैं:—(१) उत्पादन के साधनों का परिमाण—(अ) जन-शक्ति:—आबादी का आदर्श अधिकतम होना—

लोगों की शक्ति और बुद्धिमत्ता (ब) भूमि और प्राकृतिक साधन (स) भूतकालीन बचतें—स्थिर और कार्यशील पूँजी (२) उत्पादन के साधनों का गुण—(अ) विशिष्टीकरण—जिससे मजदूरों और उनके मालिकों—दोनों दलों - को लाभ होता है (ब) नागरिकों का चरित्र और रूख (३) बाजार का विस्तार जिसपर विनिमय और उत्पादन निर्भर करते हैं—“बाजार के क्षेत्रानुसार विशिष्टीकरण का विस्तार सीमित होता है”। इसमें वे सारी चीजें आयेंगी जिनपर बाजार का विस्तार निर्भर करता है। (पीछे हम लिख आये हैं) (३) पूर्ण प्रतियोगिता जिसके तत्वावधान में आदर्श अधिकतम विस्तार के उद्योग और फर्म होंगे लेकिन प्रत्येक उद्योग का आदर्श अधिकतम विस्तार पृथक् पृथक् होता, जैसे हाथी और सारंग मधुमक्खो के आदर्श अधिकतम विस्तार अनुरूप नहीं होंगे ! (५) ज्ञान, भावनाएँ (भावनाएँ तथ्यों से अधिक समर्थवान होती हैं) मनोवेग, शिक्षा-दीक्षा, नैतिक गुण यथा—ईमानदारी, निष्ठा, तत्परता और उमंग-उत्साह । (६) भौतिक आवेष्टन—उत्पादन के साधनों के बीच सहयोग-भाव, प्राकृतिक नियमों का पालन, परम्परा तथा संस्कृति । (७) आर्थिक कार्यों का संगठन—(अ) आर्थिक स्वतंत्रता या प्रेरणा की स्वतंत्रता (ब) प्रतियोगिता के साथ सहयोग (स) समन्वय और एकाधिकारों की अनुपस्थिति । (८) टेकनिकल ज्ञान और उसका समुचित उपयोग—आविष्कार और अनुसन्धान, पूँजीगत साधनों में उत्कर्ष, हस्त-कार्य के बदले यंत्र-कार्य का होना जिससे आराम और आय दोनों बढ़ेंगे । ये सब मानवता की कई संततियों तक चलते रहते हैं । इनके बिना मानवता अन्धकार की गोद में चली जायगी । दकियानुसपन और सनातनप्रेम नहीं रहने चाहिये । उत्पादन की क्रिया को नियमित और निरन्तर चलते रहना चाहिये । उस रॉयलरोस गाड़ी से जिसके तीन पहिए गायब हैं एक जोड़ा मजबूत जूरा ही मिला है ! (९) राज-नैतिक वातावरण—(अ) सरकार की नीति—सरकार पुलिस राज्य

की तरह तटस्थ और उदासीन है या प्रजातन्त्रात्मक या अधिनायकवादी है, वह पूर्ण ज्ञान की उपलब्धि और उसके प्रचार-प्रकाशन के लिये जोरदार मिहनत करती है या नहीं, आयोजित या अनायोजित अर्थ-प्रणाली है। (ब) सरकार की आर्थिक और मौद्रिक तथा राजस्व नीतियाँ क्या हैं ? क्या वह प्रगतिशील कर लगाती है और सामाजिक सुरक्षा की योजनाएँ बनाए है या नहीं ? क्या उसकी नीति के कारण देश की चल-मुद्रा “एलिस इट की वण्डरलैंड” की तरह मूल्य की दृष्टि से छोटी-बड़ी तो नहीं होती ?

किसी देश की आयोपार्जन शक्ति वर्तमान युग में अन्य देशों की आयोपार्जन-शक्ति के विकास पर भी निर्भर करती है क्योंकि वे सब आपस में व्यापार करते हैं। बाह्य शक्तियों में उल्लेखनीय ये हैं— (१) देश की व्यापार नीति-चुंगी (आयात और निर्यात कर) की रूप-रेखा (२) स्वतंत्र व्यापार चाहता है या संरक्षण (३) विदेशियों की व्यापार नीति उसके प्रति कैसी है—क्या वे स्वतंत्र व्यापार या संरक्षण चाहते हैं ? क्या द्वैदेशीय या बहुदेशीय व्यापार होता है। (३) अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का अस्तित्व—पहले अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णप्रमाण था जिसमें स्वर्ण के आवास-प्रवास द्वारा देश अपने “प्रदायों के लेखा” की गड़बड़ी को दूर करते थे और तब उनके अन्दर करेंसी नोट सोना में परिवर्त्य था। १९४४ से अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-निधि, अन्तर्राष्ट्रीय बैंक, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन बने हैं जो संयुक्त राष्ट्रों के संगठन के सदस्य देशों में आय और रोजी के स्तर को उन्नत और दृढ़ बनाने में उनकी मदद करते हैं और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार-विनिमय, लेन-देन का नियंत्रण करते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय स्वास्थ्य संगठन और खाद्य-कृषि-संगठन मानव-जाति के स्वास्थ्य, खाद्य-पूर्ति, और कृषि की समस्याओं को मुलभाना चाहते हैं। (४) राजनैतिक शक्तियाँ—युद्ध, हर्जाना, शान्ति-स्थापन (५) उपनिवेशों में आर्थिक शोषण और विदेशी सत्ता का रहना या न रहना (६) अन्तर्राष्ट्रीय एकाधिकारों (काट्रेल)—

जैसे जहाजी कम्पनियाँ, बैंक, आदि की नीति (७) भावनाओं, ज्ञान, सुझावों, शिल्प चातुरी, अप्रत्यक्ष सेवाओं (बैंक, जहाजी कम्पनियों, आदि की सेवाएँ) के अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय और समागम की संभवनीयता-असंभवनीयता (८) अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक लेन-देन का स्वरूप—व्यापार की शर्तें, विदेशी बाजार पर आधिपत्य, आदि (९) विदेशों में व्यापारिक धूम या मन्दी का होना जो बिजली के तार की तरह हर देश को आक्रान्त कर लेती है ।

बैंकों के भेद और कार्य

किसी उपन्यास के नायक ने नायिका के समक्ष यह स्वीकार किया था कि दुनिया में तीन ही प्रधान समस्याएँ होती हैं जिनके पीछे आदमी कभी-कभी पागल हो जाता है—प्रेम की समस्या, अक्रान्ता की समस्या और करेन्सी की समस्या ! लेकिन सच पुछिये तो करेन्सी की समस्या सबसे अधिक जटिल है ! बैंक के छव भेद होते हैं—संयुक्त पूँजी या वाणिज्य बैंक, केन्द्रीय बैंक, औद्योगिक बैंक, कृषि-बैंक और सेविङ्ग बैंक ।

वाणिज्य बैंकों के कार्यों को चार खंडों में बाँट सकते हैं—(१) जमा लेना—निधियों को जमा करना । चार तरह के खाता होते हैं—सेविङ्ग, स्थिर या कालगत, चालू या मांगत, गृह सेफ । सेविङ्ग खाता में हमारे देश में १० हजार से अधिक जमा नहीं होता, सप्ताह में एक-दो बार रुपया निकाला जा सकता है, एक निश्चित रकम से अधिक लेने के लिए पूर्व सूचना जरूरी होती है, बचत करके भी आदत डालने के लिए १-१½ प्रतिशत सूद दिया जाता है । स्थिर खाता में निश्चित काल तक के लिए मुद्रा जमा किया जाता है और एक तय अवधि के बाद निकासी होती है । भारत में ६ ०/० सूद दिया जाता है । चालू खाता पर चेक, या ऑर्डर से दिन में एक से अधिक बार निवासी हो सकती है । सदस्य को एक न्यूनतम रकम

स्थायी रखनी पड़ती है। इसपर कोई सूद कहीं दिया जाता। गृहसेफ खातानुसार परिवार में एक बक्स बैंक ताला बन्द कर रख देता है और सप्ताह या एक पक्ष पर उसे मँगा लेता। उसमें लोग प्रतिदिन कुछ पैसा उलते हैं। इस जमा पर सूद भी मिलता है।

(२) ऋण देना—अग्रिम और कर्ज, अधिनिकास या नकद साख के जरिए। लेकिन इसके लिए अनुमोदित जमानत (हुंडी, बिल, या सरकारी स्वर्णंकित प्रतिभूतियाँ या आभूषण) देनी होती है।

(३) विनिमय—बिलों की कटौती—इससे अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय चलने में सुविधा होती है। बैंक विक्रेता को बिल की रकम का एक प्रतिशत से बड़ा काटकर दे डालते हैं और बाद में क्रेता से उसे वसूलते हैं। इस क्षेत्र में कई मध्यस्थ व्यक्ति और संस्थाएँ भी काम करती हैं जो बिलों के जायज होने का साक्ष्य देती हैं। (४) मिश्रित-कार्य जिसके दो भेद-हैं—(अ) एजेन्सी की सेवाएँ—बैंक अपने सदस्यों के एजेंट का काम करते हैं। (ब) सामान्य उपयोगिता या हित की सेवाएँ—बैंक अपने सदस्यों के हित के लिए फुटकर काम करते हैं। इनके दृष्टान्त पाठक अपने अनुभव से दे सकते हैं।

केन्द्रीय बैंक राष्ट्रीय या सरकारी बैंक होता है। वह बैंकों का बैंक है। वह किसी देश में एक ही होता है। उसका काम नोट चलाना, सरकारी बैंक और बैंकों के बैंक का काम करना, धातवीय और विदेशी सिक्काओं को रखना, बैंकों और सौदागरों को अन्तिम शरण देना, देश में आय, रोजी और मूल्य-स्तर की स्थिरता के लिए साख-नियन्त्रण करना है।

औद्योगिक बैंक का काम उद्योग-धन्धों को प्रारंभिक स्थिर पूँजी और कार्यशील दैनिक पूँजी से ऋणदाता के रूप में मदद करना और कभी-कभी उनके शासन में भी हाथ बँटाना है।

कृषि बैंक खेती-बारी की दिकतों को दूर करने के लिए हैं। भारत में इनके रूप सरकारी बैंक और भू-बन्धक बैंक हैं।

विनिमय बैंक खासकर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और थोड़ी हद तक देश के भीतरी व्यापार में भी मदद करते हैं।

सेविङ्ग बैंक विच्छिन्न छोटी रकमों की बचतों को जमा करते हैं। भारत में ढाकघर में जो सेविङ्ग बैंक हैं उनमें ४ आना तक जमाकर खाता खोला जा सकता है।

राजकीय-कार्य

हम पीछे देख आए हैं कि किस तरह से किसी देश की सरकार उत्पादन को नियन्त्रित कर उत्पादन के साधनों के वितरण को आदर्श बनाने की सफल चेष्टा कर सकती है। हम यह भी देख चुके हैं कि किस तरह से सरकार पेशाओं में श्रम-पूर्ति के वितरण और श्रम की निपुणता को नियमित और प्रभावित कर सकती है। यहाँ हमें कुछ अन्य कार्यों के ऊपर भी विचार करना है। सरकार के कार्यों का अध्ययन हम चार दृष्टिकोणों से करें तो अच्छा होगा—(१) कार्यकारिणी सम्बन्धी, केन्द्रीय या अपरिहार्य या अनिवार्य या प्राथमिक कार्य—न्याय, कानून, व्यवस्था और रक्षा के लिए सरकार को न्यायपालिका, और न्यायधीश, पुलिस और सेना रखनी पड़ती है। इससे सरकार अपनी जनता को भीतरी गोलमाल और बाहरी आक्रमण से बचाती है। सरकार एक अनिवार्य संस्था है। आज की दुनियाँ में आदमी का अपना घर भी उसका किला नहीं रह गया है ! सरकार जरूरत पड़ने पर उसको दूसरी जगह घर-द्वार उठाकर ले जाकर बसने के लिए बाध्य कर सकती है और उधर से होकर रेलगाड़ी दौड़ाने के लिए रेलवे लाइन बना सकती है या सड़क चौड़ी कर सकती है ! और तो और, आज के जमाने

में कोई आदमी किसी आदमी को बेच नहीं सकता । दास-प्रथा जाती रही । इतना ही नहीं, आदमी अपने आपको भी बेच नहीं सकता ! सरकार लोगों को एजेंट के रूप में इन सामूहिक आवश्यकताओं की पूर्ति करती है । इन सार्वजनिक कार्यों को कुछ लोग प्रत्यक्ष (यह इसलिए कि ये समूची राष्ट्रीय आय को बढ़ा देते हैं) और कुछ लोग अप्रत्यक्ष (यह इसलिए कि इनसे केवल आय का समाज के वर्गगत अन्तर्परिवर्तन होता है) कहते हैं । (२) व्यवस्थापिका-सम्बन्धी—विधानगत—कार्य—जिनमें ऐसे कार्य आते हैं जिनसे सरकार कुछ नियम पास कराकर उनको कार्यान्वित करती है । जैसे—जोग यह करें, वह न करें । (ड्रज और ड्रनोट्स) उदाहरण के लिए, लोग तराजू-बटखरा ठीक रखें, चोरबाजारी न करें, किसी पर चढ़ न बैठें, आदि । (३) व्यावसायिक कार्य—सरकार वैयक्तिक उद्योग-धन्धों के ऊपर नियन्त्रण रखती है और कुछ उद्योग धन्धों को खुद चलाती है । (कैसे और क्यों चलाती है, इसके बारे में पीछे लिख चुके हैं) उनमें उसका नियन्त्रण और स्वामित्व दोनों रहता है । उदाहरण—सड़कें, डाक-तार विभाग, रेलवेज, सार्वजनिक उपयोगिता के उद्योग-धन्धे जैसे, पानी, गैस, प्रकाश, आदि (इनका प्रबन्ध विकेंद्रित हो सकता है और स्थानीय सरकारें और बोर्ड, आदि पूरा कर सकते हैं) (४) सामाजिक भलाई के कार्य—गरीबों को खैरात देना, बेकारों को आर्थिक मदद देना, गरीबों के लिए घर का इन्तजाम करना, बुढ़ापे में पेन्शन देना, सार्वजनिक स्वास्थ्य और सफाई, शिक्षा, आदि की व्यवस्था करना । इन कार्यों का सामाजिक और राजनैतिक महत्व है । ये “हस्तान्तर प्रदायों” (ट्रान्सफर पेमेन्ट्स) के जरिए सम्पन्न होते हैं । कुछ अर्थशास्त्रियों ने इन्हीं वर्गों को दूसरे प्रकार से चार भिन्न कोटियों में रखा है—योजनाकरण सम्बन्धी कार्य, राष्ट्रीय उत्पत्ति का सामूहिक उपभोग अधिक मात्रा में करने के कार्य (यद्यपि अस्पताल, राजमार्ग आदि स्वतन्त्र वैयक्तिक प्रेरणा की मदद से ही बनते हैं), अथवा सरकारी उत्पादन के कार्य (सार्वजनिक उपयोगिता के उद्योग-

धन्वे) और सामाजिक कल्याण के कार्य । इन चारों कोटियों पर सरकार का खर्च दिनोंदिन बढ़ता जा रहा है । हाल में हमारी सरकार कुछ शोषक प्रकाशकों से लेखकों का त्राण करने के लिए भी सोच रही है ।

ये कार्य कैसे पूरा होते हैं ? सार्वजनिक आय के जरिए

इन कार्यों का सेवाओं को सम्पन्न करने के लिए सरकार को राजस्व की जरूरत है, उसे आय होनी चाहिए तभी वह इनके ऊपर व्यय कर सकती है । सरकार को आय अग्रलिखित जरियों से होती हैं—(१) कर—यह एक अनिवार्य वसूली है । कर देनेवाले को लाभ पहुँचने, न पहुँचने का कोई सवाल इनमें नहीं है । कर सार्वजनिक हित के लिए लगाए जाते हैं । कर प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दो प्रकार के होते हैं । (२) शुल्क—‘कूड प्रोको’जो व्यक्ति लाभान्वित होते हैं, सरकारी दफ्तरों की सेवा लेते हैं, वे खर्च के रूप में इसे देते हैं । (३) रेंट—जैसे रेल-भाड़ा एक सरकारी रेंट है । स्थानीय रेंटें स्थानीय संस्थाओं द्वारा स्थिर जायदाद (मकान, आदि) और चल जायदाद (कुत्ता, साइकिल, आदि) पर लगाई जाती हैं । (४) मूल्य—सरकारी उद्योग-धन्वों की चीजों और सेवाओं के विक्रय से । (५) विशेष वसूली—जब बंजर निजी जमीनों का विकास सरकारी संस्थाओं के खुलने से होता है तब सरकार एक रकम इनके स्वामियों से वसूल करती है । (६) लगान और शेष । (७) लोगों द्वारा दिए दान, आदि । (८) दंड, जुर्माना, हरजाना की रकमें, आदि । ये सभी स्वाभाविक जरिया हैं । (९) सार्वजनिक भ्रष्टाचार—सरकार अपनी प्रजा से, वैयक्तिक संस्थाओं से, और विदेशी सरकारों से आवश्यकता पड़ने पर बोन्ड और सेक्यूरिटी पर कर्ज लेती और सुद देती है । (१०) जब इनसे भी काम नहीं चलता तब सरकार मुद्रा-स्फीत करती है । वह नोट छापती है और उससे अपना काम चलाती है । यह उसका ‘छिपा हाथ’ है । वह सुन्दर, नवीन, भूर (क्रिस्प) ! नोट छाप

सकती है। उसको इसका भी वैधानिक अधिकार है। यह सरकारी मुद्रा (फायट) भी सर्वग्राह्य होगी।

सार्वजनिक व्यय में वृद्धि होने के कारण

वर्तमानकाल में सार्वजनिक व्यय में निम्नलिखित कारणों से वृद्धि हुई है—किसी देश के क्षेत्रफल या आबादी, मूल्य-स्तर, राष्ट्रीय आय और लोगों के जीवन-स्तर में वृद्धि होने से, युद्ध की आशंका से, दलीय प्रजातन्त्रात्मक सरकार के कारण, राज्य के पुलिस-राज्य से लोकवादी राज्य बन जाने के कारण (सरकार आजकल बच्चों की 'मुखौनों' ! को रोकना चाहती है और उनको अपने अभिभावकों की गरीबी और कमजोरी का शिकार नहीं बनने देती, वह यह नहीं चाहती कि गरीब लोग फोड़े से मर जायँ क्योंकि वे औपरेशन नहीं करा सकते, वह वह नहीं चाहती कि बूढ़े समाज के भार बनें रहें), सरकार द्वारा अधिकाधिक व्यावसायिक कार्य सम्पादित किये जाने के चलते भी (सरकार अधिकाधिक बनिया बनती जा रही है), मन्दी को और उसके कारण रोजी के हास को रोकने के लिये घाटा-व्यय करने के फलस्वरूप (क्योंकि व्यापारिक धूम में देश को रोजी बहुत ऊपर चढ़ जातों है—चढ़ने में मजा आता है, लेकिन उतरते वक्त थका और हारा-हारा जान पड़ता है !) । कभी-कभी अनावश्यक विभाग भी कुछ दिनों के लिये खोले जाते और फिर बन्द कर दिये जाते । इसमें फिजूल खर्ची होती है । 'मोहर दहा चल जाय, कोयले पर छाप !' वाली बात है ।

सार्वजनिक व्यय के प्रभाव

स्थूल दृष्टि से सार्वजनिक व्यय का प्रभाव आर्थिक प्रणाली पर हितकर तथा स्वस्थ पड़ता है । इससे देश में न्याय, शान्ति, व्यवस्था कायम होती है और दुश्मन के आक्रमण का भय नहीं रहता । लोगों के काम करने की शक्ति और इच्छा भी बढ़ती है । राष्ट्रीय आय की

मात्रा बढ़ती है या सुस्थिर होती है जिससे प्रति जन आय की मात्रा बढ़ती है या सुस्थिर होती है। उसमें भारी उल्ट-फेर नहीं होने पाते। धन और आय के वितरण की जो वर्तमान विषमता है उसकी मात्रा कम होती है। जिससे धनी-गरीब के मध्य की खाई की चौड़ाई घटती है। आगे चलकर हम इसपर और लिखेंगे।

सार्वजनिक व्यय के सिद्धान्त

ये संख्या में छुव हैं—हित का सिद्धान्त (सरकार जो व्यय करे उसके सामाजिक लाभ अधिकतम हो), मितव्ययिता का सिद्धान्त (सरकार को फिजूल और अनुत्पादक व्यय नहीं करना चाहिये), स्वीकृति का सिद्धान्त (सरकार जो व्यय करे उसके मद और उनकी रकमें जनमत द्वारा स्वीकृत, जनता के प्रतिनिधियों द्वारा मंजूर हो), बचत का सिद्धान्त (सरकार को व्यापारिक धूम में बचत और व्यापारिक मन्दो में घाटा-पत्रक बनाना चाहिये), लाच का सिद्धान्त (सरकार के व्यय लोचपूर्ण हों (जो आवश्यकतानुसार बढ़ाये जा सकें), न्याय का सिद्धान्त (सरकार को धन एवं आय के वितरण को समान बनाना चाहिये)।

सार्वजनिक कर-चसली के स्मीथ-प्रवर्तित सिद्धान्त

ये चार हैं—(१) समता का सिद्धान्त जिसमें बतलाया है कि प्रत्येक नागरिक को सरकार की छत्रछाया में अर्जित आय का एक भाग आय के अनुपात में सरकार के शासन के चलाने के लिये देना चाहिये। इससे तो जान पड़ता है कि स्मीथ ने समानुपातिक कर-प्रणाली का पन्ना लिया है, लेकिन ऐसी बात नहीं क्योंकि उन्होंने लिखा है कि धनी को गरीब से अनुपात में अधिक कर देना न्याय-सम्मत है। (२) निश्चयता का सिद्धान्त जिसमें बतलाया गया है कि कर देनेवाले और सरकार दोनों को कर में कितनी रकम

और कब और कैसे मिलेगी ज्ञात रहे। इसमें दोनों को लाभ होंगे। (३) सुविधा का सिद्धान्त—इसमें बताया गया है कि सरकार को कर ऐसे समय में वसूल करना चाहिए कि कर देनेवाले को और सरकार को भी कर लेने में सुविधा हो। (४) मितव्ययिता का सिद्धान्त—इस सिद्धान्त में स्मीथ ने बतलाया है कि सरकार को ऐसे कर और इस तरह से लगाने और वसूल करने चाहिए कि जितनी रकम मिलनेवाली है और जितनी रकम वास्तव में राज-कोष में आती है इन दोनों में कम-से-कम अन्तर हो। ऐसा न हो कि गुड़ का नफा चींटी खाये !

आय-कर लगाने के ढंग

ये चार हैं—(१) आनुपातिक—इसमें चाहे आय जो भी हो उसपर एक निश्चित दर से कर लगाया जायगा। (२) प्रगतिशील—इसमें अधिक आय पर अधिक दर से और कम आय पर कम दर से कर लगाया जाता है। एक न्यूनतम आय-स्तर निर्धारित कर दिया जाता है, जितने तक की आयों पर कर नहीं देना पड़ता। (३) प्रतिगामी—इसके अनुसार आमदनी ज्यों-ज्यों बढ़ती जाती है त्यों-त्यों कर की दर कम होती है। (४) हासमान प्रगतिशील—आय बढ़ने के साथ कर की दर बढ़ती है लेकिन घटती दर से।

अच्छी कर-प्रणाली के लक्षण

अच्छी कर-प्रणाली में स्मीथ द्वारा बताए चारों सिद्धान्तों का पालन होता है। कर लगाने का ढंग प्रगतिशील होता है। कर देने की सामर्थ्यानुसार कर लगाने से सबलतर कंधों पर कर का अधिक भार पड़ेगा और लोगों का सम्पूर्ण त्याग कर-वसूली के फलस्वरूप न्यूनतम होगा। इतने ही कर लगाए जाते हैं जिनसे यथेष्ट आय मिले (यों तो सरकार उस संस्कृत श्लोक में माँ की तरह है जिसमें बताया गया है कि जिस लकड़ी की शादी होनेवाली होती है वह

मात्रा बढ़ती है या सुस्थिर होती है जिससे प्रति जन आय की मात्रा बढ़ती है या सुस्थिर होती है। उसमें भारी उल्ट-फेर नहीं होने पाते। धन और आय के वितरण की जो वर्तमान विषमता है उसकी मात्रा कम होती है। जिससे धनी-गरीब के मध्य की खाई की चौड़ाई घटती है। आगे चलकर हम इसपर और लिखेंगे।

सार्वजनिक व्यय के सिद्धान्त

ये संख्या में छव हैं—हित का सिद्धान्त (सरकार जो व्यय करे उससे सामाजिक लाभ अधिकतम हो), मितव्ययिता का सिद्धान्त (सरकार को फिजूल और अनुत्पादक व्यय नहीं करना चाहिये), स्वीकृति का सिद्धान्त (सरकार जो व्यय करे उसके मद और उनकी रकमें जनमत द्वारा स्वीकृत, जनता के प्रतिनिधियों द्वारा मंजूर हो), बचत का सिद्धान्त (सरकार को व्यापारिक धूम में बचत और व्यापारिक मन्दी में घाटा-पत्रक बनाना चाहिये), लाच का सिद्धान्त सरकार के व्यय लोचपूर्ण हों (जो आवश्यकतानुसार बढ़ाये जा सकें), न्याय का सिद्धान्त (सरकार को धन एवं आय के वितरण को समान बनाना चाहिये)।

सार्वजनिक कर-वसूली के स्मीथ-प्रवर्तित सिद्धान्त

ये चार हैं—(१) समता का सिद्धान्त जिसमें बतलाया है कि प्रत्येक नागरिक को सरकार की छत्रछाया में अर्जित आय का एक भाग आय के अनुपात में सरकार के शासन के चलाने के लिये देना चाहिये। इससे तो जान पड़ता है कि स्मीथ ने समानुपातिक कर-प्रणाली का पक्ष लिया है, लेकिन ऐसी बात नहीं क्योंकि उन्होंने लिखा है कि धनी को गरीब से अनुपात में अधिक कर देना न्याय-सम्मत है। (२) निश्चयता का सिद्धान्त जिसमें बतलाया गया है कि कर देनेवाले और सरकार दोनों को कर में कितनी रकम

और कब और कैसे मिलेगा ज्ञात रहे। इससे दोनों को लाभ होगा। (३) सुविधा का सिद्धान्त—इसमें बताया गया है कि सरकार को कर ऐसे समय में वसूल करना चाहिए कि कर देनेवाले को और सरकार को भी कर लेने में सुविधा हो। (४) मितव्ययिता का सिद्धान्त—इस सिद्धान्त में स्मिथ ने बताया है कि सरकार को ऐसे कर और इस तरह से लगाने और वसूल करने चाहिए कि जितनी रकम मिलनेवाली है और जितनी रकम वास्तव में राज-कोष में आती है इन दोनों में कम-से-कम अन्तर हो। ऐसा न हो कि गुड़ का नफा चींटी खाये !

आय-कर लगाने के ढंग

ये चार हैं—(१) आनुपातिक—इसमें चाहे आय जो भी हो उसपर एक निश्चित दर से कर लगाया जायगा। (२) प्रगतिशील—इसमें अधिक आय पर अधिक दर से और कम आय पर कम दर से कर लगाया जाता है। एक न्यूनतम आय-स्तर निर्धारित कर दिया जाता है, जितने तक की आयों पर कर नहीं देना पड़ता। (३) प्रतिगामी—इसके अनुसार आमदनी ज्यों-ज्यों बढ़ती जाती है त्यों-त्यों कर की दर कम होती है। (४) हासमान प्रगतिशील—आय बढ़ने के साथ कर की दर बढ़ती है लेकिन घटती दर से।

अच्छी कर-प्रणाली के लक्षण

अच्छी कर-प्रणाली में स्मिथ द्वारा बताए चारों सिद्धान्तों का पालन होता है। कर लगाने का ढंग प्रगतिशील होता है। कर देने की सामर्थ्यानुसार कर लगाने से सवलततर कंधों पर कर का अधिक भार पड़ेगा और लोगों का सम्पूर्ण त्याग कर-वसूली के फलस्वरूप न्यूनतम होगा। इतने ही कर लगाए जाते हैं जिनसे यथेष्ट आय मिले (यों तो सरकार उस संस्कृत श्लोक में माँ की तरह है जिसमें बताया गया है कि जिस लकड़ी की शादी होनेवाली होती है वह

चाहती है कि उसका वर सुन्दर हो—इससे तो बहुत-से शिक्षित लोगों को भी विफल होना पड़ेगा !—उसकी माँ चाहती है कि वह धनी हो अर्थात् वह धन चाहती है, उसका पिता चाहता है कि वह पढ़-लिखा हो—तब तो बहुतों का गुजारा हो जायगा !—उसके पड़ोसी चाहते हैं कि वह खन्दानी हो और दूसरे लोग चाहते हैं कि चाहे जो कुछ भी हो, उन्हें बढ़िया भोज-भात मिले !) और जो लोचपूर्ण हों, जिससे आय और आबादी के बढ़ने से उनकी आय त्वतः बढ़ जाय, जिसमें अधिक आय प्रत्यक्ष करों से और कम आय अप्रत्यक्ष करों से लिया जाता हो, जिसमें धनी यह सोचें कि उन्हें कुछ अधिक कर देना चाहिए और गरीब सोचें कि वे कुछ अधिक कर दे रहे हैं ! लेकिन सर्वथा निर्दोष कर-प्रणाली केवल आदर्श है। कहा भी है—

“Whoever Hopes A Faultless Tax To See,
Hopes For What Never Was, Or Is, Or
Will Be.”

कुछ परिभाषाएँ

जिस आदमी को प्रत्यक्ष रूप से पहले दफे सरकार को कर चुकाना पड़ता है उसको कर का संपतन (इम्पैक्ट), जिसका कंधा कर के प्रथम संपतन से मसकता है वह उसके बोझ को दूसरे के कंधे के ऊपर डालना चाहता है इस क्रिया को हस्तान्तर (सिफ्टिङ्ग), और जिसके ऊपर कर का बोझ जाकर चिपक बैठता है और जिसको चुकाना पड़ता है उसको संवहन (इन्सिडेन्स) कहते हैं। हस्तान्तर क्रिया (प्रोशेस) है, संवहन परिणाम (रिजल्ट) है और आय तथा सम्पत्ति के वितरण में हुए परिवर्तन प्रभाव (एफेक्ट्स) हैं। चीनी की मिल पर चुंगी लगने पर मिल-मालिक पहले तो कर की रकम सरकार को चुकाता है लेकिन वह दाम बढ़ाकर उसे वसूल लेता है। दाम बढ़ने पर माँग कम हो जाती है। इससे इस व्यवसाय में लगे कई सौदागर बेकार हो जाते हैं।

प्रत्यक्ष बनाम अप्रत्यक्ष कर

प्रत्यक्ष कर वह है जिसका संपतन तथा संवहन एक ही व्यक्ति पर हो, हस्तान्तर न हो सके, जो उन व्यक्तियों पर लगाया गया हो जिनके नाम सरकारी रजिस्ट्रों में दर्ज हों। अप्रत्यक्ष कर वह है जिसका संपतन और संवहन दो व्यक्तियों पर हो, जिसमें हस्तान्तर हो, जो वस्तुओं और सेवाओं पर लगाया जाय (यद्यपि देनेवाले आखिर में व्यक्ति ही हैं) और जिसको अन्त में सहनेवालों के नाम सरकारी रजिस्ट्रों में दर्ज न हों।

प्रत्यक्ष कर समतादर्शी और न्यायपूर्ण है, उसमें निश्चयता रहती और मितव्ययिता होती है, वह प्रगतिशील और अधिक नागरिक चैतन्य को उभाड़ने वाला होता है और जितने ही अधिक प्रत्यक्ष कर किसी देश में लगाए जायेंगे उनसे आय और सम्पत्ति के वितरण की असमानता कम होगी। अप्रत्यक्ष कर असमतापूर्ण और अन्यायपूर्ण होता है, उसमें निश्चयता कम रहती और मितव्ययिता कम होती है, वह अप्रगतिशील और नागरिक चैतन्य को कम उभाड़ने वाला होता है और जिस देश में जितने ही अधिक अप्रत्यक्ष कर लगाए जायेंगे उसमें आय एवं धन के वितरण की असमानता उतनी ही अधिक होगी।

अप्रत्यक्ष करों द्वारा कर-प्रणाली को व्यापक और अधिक उत्पादक बनाया जा सकता है, प्रत्यक्ष करों से ही ऐसा संभव नहीं। वे अधिक सुविधापूर्ण होते हैं, अनजान में तुच्छ मात्रा में उन्हें आदमी देता है जहाँ कि प्रत्यक्ष कर कम सुविधापूर्ण होते हैं क्योंकि आमदनी थोड़ा-थोड़ा करके होती है लेकिन कर देना होता है एक बार। प्रत्यक्ष कर जायदाद और आय को कृतकर वसूला जाता है, कृतने में ही मनमानी सरकारी अमला कर सकते हैं। अप्रत्यक्ष करों में इसकी जगह नहीं।

नशीली चीजों पर लगाने से अप्रत्यक्ष करों का नैतिक प्रभाव भी प्रति-
कूल पड़ सकता है। 'वे एक पंथ दो काज' करते हैं—सरकार को
राजस्व भी मिलता है और लोगों का कुकर्म भी घटता है ! आराम
और विलास की चीजों पर काफी गहरी दर से इन्हें लगाकर समाज
की आर्थिक बिषमता को कम किया जा सकता है। (विक्रय-करों की
आलोचना इसी ढंग पर की जा सकती है।)

अप्रत्यक्ष और प्रत्यक्ष दोनों प्रकार के कर-प्रणाली के आधार
और विस्तार को विशद बनाते, दोनों खास-खास दशाओं में असुविधा-
पूर्ण बन जा सकते हैं, दोनों उत्पादक और खर्चपूर्ण हैं, दोनों से
बचना कठिन है, दोनों कुछ हालतों में बेईमानी को प्रोत्साहित कर
सकते हैं, दोनों में परिवर्तन कर व्यापारिक धूम (इसमें दरें बढ़ा दी
जाएँगी) और व्यापारिक मन्दी (इसमें दरें कम कर दी जाएँगी)
को सरकार कुछ हद तक रोक सकती है; दोनों की आय व्यापारिक
उत्थान के समय बढ़ और व्यापारिक मन्दी के समय घट जाती है।
दोनों ही अच्छे और अपरिहार्य हैं लेकिन दोनों में संतुलन स्थापित
करना होगा और दोनों के बीच करदाता की राजस्व-भक्ति को कम-
वेश विभक्त करना होगा। दोनों सहोदर सुन्दर बहनों की तरह हैं
और दोनों के प्रति सरकार को निष्पक्ष होना है ! (नोट—विक्रय-करों
में अप्रत्यक्ष करों के सभी दोष पाए जाते हैं अधिक उग्ररूप में।
लेकिन वे आवश्यकता की संतति हैं ! वे दुधार गाय बन चुके हैं !)

सम्पत्ति एवं आय के वितरण में असमानता

किसी आदमी की आय उसके मुख के संवेदनशील 'तापमापक
यंत्र' की तरह है। उसको देखकर हम स्थूल रूप से किसी आदमी की
राजनैतिक सम्मतियाँ, उसकी रुचियाँ और तरजीहें, उसको शिक्षा-
दीक्षा, उसकी अवस्था, उसकी आयु तक बता सकते हैं। लेकिन कितने

लोगों को अपने आय-व्यय का ठीक पता नहीं रहता। विद्यार्थी यों अपने अभिभावकों की आय को बढ़ा-चढ़ा कर बताते हैं (लेकिन फीस माफ कराने के लिए आवेदन-पत्र देते समय घटाकर ही !), कितनी स्त्रियों को अपने पतियों की समूची आमदनियों का कोई सुचारु और पूर्ण पता नहीं रहता। अमेरिका में तो कितने परिवार ऐसे मिले जिनके मालिक-मलिकिनी ने जन्म-निरोधक साधनों के उपयोग के बारे में आय के विषय में जो पता बताया वह अधिक विश्वासनीय मालूम हुआ !

आज हम किसी देश को (रूस को छोड़कर) ले लें तो हमें ज्ञात होगा कि किस तरह आबादी के एक अत्यन्त तुच्छ भाग के हाथों में देश की समूची आय और जायदाद का अधिकांश भाग केन्द्रित है, इतनी उग्र मात्रा में कि यदि हम लौगैरिथम कागज पर उसका वक्र बनावें तो हमें उस शलगम की तरह एक खाका मिलेगा जिसकी जड़ और सिरा तंग, संकीर्ण और सिकुड़ा हुआ है और बीच का भाग सपाट है। इसका मतलब हुआ कि समाज तीन वर्गों में विभाजित है—(१) अत्यन्त दरिद्र लोगों का वर्ग (२) मध्यवित्त—ऊपरी और निचला—वालों का वर्ग जिसकी संख्या सर्वाधिक है (३) अत्यन्त धनी लोगों का वर्ग जो संख्या में शेष दो वर्गों से कम हैं। यह इसलिए कि भले ही दिनोंदिन दरिद्र दरिद्रतर नहीं होते जा रहे हैं, लेकिन धनी अधिक धनी होते जा रहे हैं !

किन-किन वजहों से आय और सम्पत्ति के वितरण में इतनी विषमता हो जाती है ? हम मजदूरी के प्रसंग में फिर इस सवाल को छेड़ेंगे और उसका समाधान देंगे। हम यहाँ अन्य पक्षों का विश्लेषण करेंगे। लोगों को जैसा कह चुके हैं, आय दो स्रोतों से होती है—मिहनत करने से मिलने वाले वेतन या मजदूरी से और पास को जायदाद को उत्पादन में उधार सूद पर लगा देने से। जायदाद उस जादूभरी मीठी

नशीली चीजों पर लगाने से अप्रत्यक्ष करों का नैतिक प्रभाव भी प्रतिकूल पड़ सकता है। 'वे एक पंथ दो काज' करते हैं—सरकार को राजस्व भी मिलता है और लोगों का कुकर्म भी घटता है ! आराम और विलास की चीजों पर काफी गहरी दर से इन्हें लगाकर समाज की आर्थिक बिषमता को कम किया जा सकता है। (विक्रय-करों की आलोचना इसी ढंग पर की जा सकती है।)

अप्रत्यक्ष और प्रत्यक्ष दोनों प्रकार के कर-प्रणाली के आधार और विस्तार को विशद बनाते, दोनों खास-खास दशाओं में असुविधापूर्ण बन जा सकते हैं, दोनों उत्पादक और लोचपूर्ण हैं, दोनों से बचना कठिन है, दोनों कुछ हालतों में बेईमानी को प्रोत्साहित कर सकते हैं, दोनों में परिवर्तन कर व्यापारिक धूम (इसमें दरें बढ़ा दी जाएँगी) और व्यापारिक मन्दी (इसमें दरें कम कर दी जाएँगी) को सरकार कुछ हद तक रोक सकती है; दोनों की आय व्यापारिक उत्थान के समय बढ़ और व्यापारिक मन्दी के समय घट जाती है। दोनों ही अच्छे और अपरिहार्य हैं लेकिन दोनों में संतुलन स्थापित करना होगा और दोनों के बीच करदाता की राजस्व-भक्ति को कम-वेश विभक्त करना होगा। दोनों सहोदर सुन्दर बहनों की तरह हैं और दोनों के प्रति सरकार को निष्पक्ष होना है ! (नोट—विक्रय-करों में अप्रत्यक्ष करों के सभी दोष पाए जाते हैं अधिक उग्ररूप में। लेकिन वे आवश्यकता की संतति हैं ! वे दुधार गाय बन चुके हैं !)

सम्पत्ति एवं आय के वितरण में असमानता

किसी आदमी की आय उसके सुख के संवेदनशील 'तापमापक यंत्र' की तरह है। उसको देखकर हम स्थूल रूप से किसी आदमी की राजनैतिक सम्मतियाँ, उसकी रुचियाँ और तरजीहें, उसको शिक्षा-दीक्षा, उसकी अवस्था, उसकी आयु तक बता सकते हैं। लेकिन कितने

लोगों को अपने आय-व्यय का ठीक पता नहीं रहता । विद्यार्थी यों अपने अभिभावकों की आय को बढ़ा-चढ़ा कर बताते हैं (लेकिन फीस माफ कराने के लिए आवेदन-पत्र देते समय घटाकर ही !), कितनी स्त्रियों को अपने पतियों की समूची आमदनियों का कोई मुचार और पूर्ण पता नहीं रहता । अमेरिका में तो कितने परिवार ऐसे मिले जिनके मालिक-मलिकिनी ने जन्म-निरोधक साधनों के उपयोग के बारे में आय के विषय में जो पता बताया वह अधिक विश्वासनीय मालूम हुआ !

आज हम किसी देश को (रूस को छोड़कर) ले लें तो हमें ज्ञात होगा कि किस तरह आबादी के एक अत्यन्त तुच्छ भाग के हाथों में देश की समूची आय और जायदाद का अधिकांश भाग केन्द्रित है, इतनी उग्र मात्रा में कि यदि हम लौगैरिथम कागज पर उसका वक्र बनावें तो हमें उस शलगम की तरह एक खाका मिलेगा जिसकी जड़ और सिरा तंग, संकीर्ण और सिकुड़ा हुआ है और बीच का भाग सपाट है । इसका मतलब हुआ कि समाज तीन वर्गों में विभाजित है—(१) अत्यन्त दरिद्र लोगों का वर्ग (२) मध्यवर्ति—ऊपरी और निचला—वालों का वर्ग जिसकी संख्या सर्वाधिक है (३) अत्यन्त धनी लोगों का वर्ग जो संख्या में शेष दो वर्गों से कम है । यह इसलिए कि भले ही दिनोंदिन दरिद्र दरिद्रतर नहीं होते जा रहे हैं, लेकिन धनी अधिक धनी होते जा रहे हैं !

किन-किन वजहों से आय और सम्पत्ति के वितरण में इतनी विषमता हो जाती है ? हम मजदूरी के प्रसंग में फिर इस सवाल को छेड़ेंगे और उसका समाधान देंगे । हम यहाँ अन्य पक्षों का विश्लेषण करेंगे । लोगों को जैसा कह चुके हैं, आय दो स्रोतों से होती है—मिहनत करने से मिलने वाले वेतन या मजदूरी से और पास की जायदाद को उत्पादन में उधार सूद पर लगा देने से । जायदाद उस जादूभरी मीठी

रोटी की तरह है जिसको उसका स्वामी खाता जाता है (उसकी आय को) और उसको सुरक्षित भी रखता है । अथवा उसको सोने का अंडा देनेवाली मुर्गी या राजहंस भी कह सकते हैं ! देश में उत्तराधिकार की संस्था है । पूँजी का उत्तरोत्तर विकास होता जाता है । जिस तरह से माली बीज बोकर फूलों की प्रतीक्षा करता है उसी तरह से पूँजीवाला उसका विनियोग कर सूद की लालसा करता है । सूद है क्या चीज ? सूद पूँजी की आय (रिटर्न) है । एक किसान एक सौ ओधियाँ या पौधे लगाता है । एक साल में खुद खाता है, नौकरों को खिलाता है, मवेशी खाते हैं, और खाए-खरचे फसल के अन्त में एक सौ छव ओधियाँ बच जाती हैं । उनसे पैसा मिलता है । एक सौ उसकी मूल पूँजी थी और छव इस पर मिला सूद । केवल खरहे या ओधियाँ ही 'बियाड़' नहीं करती; मशीन और औजार भी करते हैं ! वे भी मानो अंडा देते हैं, क्योंकि उनमें उत्पादकता है ! कहा भी है औजारों को बनाने के लिए औजारों को जरूरत पड़ती है ! देश-देश के संविधानों में जो त्रय स्वतंत्रताएँ—मौलिक अधिकार—जीवन, स्वतंत्रता और जायदाद के—हैं उनमें जायदाद का वैयक्तिक स्वामित्व और नियंत्रण भी एक है । चूँकि ८० प्रतिशत कार्यशील आबादी एड़ी-चोटी के पसीने को कमाई खाती है और चूँकि ऐसे व्यक्तियों को असमान मजदूरी मिलती है, इसलिए यह असमानता क्रमशः बढ़ती जाती है । कितने आदमों अवकाश-ग्रहण करते समय लाखों-हजारों के स्वामी बन जाते हैं और इस आय को बैंक और कॉरपोरेशनों में जमाकर उसके सूद या डिविडेन्ड से अपनी अवशिष्ट जिन्दगी गुजारते हैं । यह भी उस जादूभरी रोटी की तरह ही है । इस तरह उत्पादन के साधनों पर असमान रूप से वैयक्तिक स्वत्व है और उसका भी काफी केन्द्रीयकरण हुआ है । समाज में पूर्ण-प्रतियोगिता नहीं (जिसका अर्थ होता है पूर्ण रोजी और गतिशीलता का अस्तित्व, आदि) और पूर्ण प्रतियोगिता तो मानों १९वीं शदी

रूपी राजहंस का मरण-गान थी ! २०वीं शदी तो एकाधिकारों का युग है । सरकार के कर वसूलने और उसकी आय को व्यय करने पर भी, लोकहित के कितने सामाजिक, आर्थिक, व्यावसायिक, आदि कार्य सम्पन्न करने पर भी, हम पाते हैं कि धनी-गरीब के बीच की खाई अभी बहुत-कुछ पहले जैसी काफी चौड़ी है । धनी खूब चैन की वंशी बजाते और मौज उड़ाते हैं, उनकी सन्तानें खर्चालु शिक्षा-दीक्षा से विभूषित होकर जितने अधिक आय देनेवाले पेशा हैं उनको आत्मगत कर लेते हैं । अगर चन्द्रलोक का समझदार आदमी किसी देश के किसी बहुमूल्य पत्रिका के आमुख पर छपे किसी खुशहाल, चुलबुलाती, रंगीन तितली (या परी !) का चित्र देखे और उससे उस देश के आम निवासी को आय का नक्शा अपने दिमाग में खींच ले और उस देश में प्रवेश करके वस्तु-स्थिति से उसकी तुलना करे तो उसको इस माया-मरीचिका का पता लगेगा ! फिर भी धनियों के बीच भी कुछ लोग ऐसे हैं जो मानवता के आँसू को सहलाने का प्रयत्न करते हैं और निष्क्रिय न रहकर सक्रिय होकर उत्पादन में भाग लेते हैं ।

समाज की इस आर्थिक विषमता के निकट परिणाम आर्थिक कष्ट हैं और अन्तिम परिणाम सामाजिक क्रान्ति होगी जिससे बुर्जुआ के दहते महलों की राख पर सर्वहारा के समतापूर्ण नव समाज की अवतारणा होगी । यदि हमारे-आपके भगवान की यही इच्छा है कि जो मुसीबतों से गुजरता हो, जो तकलीफों के पहाड़ से दबा हो, उसे अधिकाधिक 'पेरा' जा सके, यदि आर्थिक विपन्नता भी प्रभु की सृष्टि है और इसलिए—'बाबावाक्यम् प्रमाणम्' के अनुसार—सिरोधार्य है, तो ऐसे भगवान का स्थान, जिसका दिल इतना काला हो सकता है, हमारे-आपके दिमाग में नहीं, ईंट-सीमेंट के मकान में है और मानवता का कल्याण, इसीमें है कि धर्म के ठीकेदारों से, हर बात पर भगवत् इच्छा की दुहाई देनेवालों से, पहले निपटा जाय ।

संसार का सबसे बड़ा इन्सान ही गोली का शिकार बनता है, सूजी पर लटकाया जाता है, विष-गन करता है। पीछे लोग आँसू भले ही बहायें। यह है पूँजीवादी विडम्बना ! गीत में भले ही सारी दुनिया आपकी हो और आप उसका मजा लें लेकिन जीवन में तो ऐसी बात नहीं !

आर्थिक विषमता के परिणामों को इस तरह रखा जा सकता है—(१) सामाजिक परिणाम—समाज कई वर्गों में बँट गया है। इनके बीच स्वाथों का विग्रह है। अधिकांश व्यक्तियों के व्यक्तित्व का समुचित विकास नहीं होता। उनको संस्कृति भी दबी हुई है। उनको उपेक्षा की दृष्टि से देखा जाता है। (२) राजनैतिक परिणाम—सरकार पूँजीपतियों के हाथ की कठपुतली है। राजनैतिक भ्रष्टाचार काफी होते हैं। मजदूर-वर्ग और पूँजीपति-वर्ग में कलह है जिससे हड़तालें और तालाबन्दियाँ होती हैं। (३) आर्थिक परिणाम—आबादी के बहुसंख्यक भाग का जीवन-स्तर बहुत ही निम्न है। अत्युत्पादन और अपोपभोग के बादल घहराते रहते हैं। व्यापारिक अवनति या मन्दी का चक्र आता रहता है जिससे रोजी और आय की कमी होती है। सुयोगों के वितरण में बड़ी असमानता है। गरीबों के आँसुओं का पलड़ा धनिकों की मुसकानों के पलड़े से काफी भारी है।

वे कौन-कौन यत्न हैं जिनके जरिए ऐसी विषमता को कम (यदि एकदम दूर करना पूँजीवाद में असंभव है) किया जा सकता है और जिनका उपयोग आज की पूँजीवादी देशों की सरकारें करती हैं ? हमें एक ओर वर्तमान असमानता को “दूर” करना है, दूसरी ओर वर्तमान आर्थिक प्रणाली में ही समानता की “सृष्टि” करना है। हमें असमानता के कारणों को ही दूर नहीं करना होगा बल्कि इन “कारणों के कारणों” को भी हटाना होगा। मजदूरियों की दरों में भिन्नता होने के कारण, आयों की भिन्नता होने के कारण, जायदाद

के उत्तराधिकार की परिपाटी होने के कारण आर्थिक विषमता उत्पन्न होती है। यह सही बात है। इन कारणों से हमें लड़ना होगा, जुझना होगा। लेकिन इसके साथ हमें ठंडे दिल-दिमाग से सोचना होगा कि मजदूरियों और आयों में भिन्नताएँ क्यों कर होती हैं, उनके जो कारण हों (देखिए “मजदूरी” शीर्षक भाग) उनको भी मिटाने की कमरकज कोशिश होनी चाहिए। यदि इन यत्नों को नहीं अपनाया जाता तो समाज का भविष्य बहुत अन्धकारपूर्ण है। माल्थस ने दूसरे कारण से उसको अन्धकारपूर्ण बतलाया था, लेकिन मार्क्स ने इन कारणों से और मार्क्स की दूरदर्शिता को समय के परिवर्तन भले ही कुछ अंशों में रद्द कर दें लेकिन मार्क्सवाद मानवता की शाश्वत, चिरन्तन वाणी है। ये अग्रलिखित हैं—

(१) मजदूरी या वेतन की निम्नतम और उच्चतम सीमाएँ निर्धारित करना (२) जायदाद की संस्था को धीरे-धीरे उन्मूलित करना (जैसा कि रिगनैनो की योजना है) जिससे लगानजीवियों या आरामतलबी वर्ग का (जो हर साल अपने टेबुल पर आनेवाले बिलों और कूपनों को तराश कर जीता है) अन्त हो सके। इसके लिए कड़ी दरों से मृत्यु-कर (उत्तराधिकार-कर और रियायत-कर) लगाने होंगे। पूँजी-वसूली (कैपिटल लेवी) भी हो सकती है। (३) जिनको, एक निश्चित हद से ऊपर आमदनी होती है, उनपर प्रगतिशील दर पर आय-कर लगाया जा सकता है। अधिक लाभ के दिनों में अधिक मुनाफा-कर और व्यवसाय-मुनाफा कर लगाए जा सकते हैं। (४) अप्रत्यक्ष करों को धनिकों द्वारा उपयुक्त होनेवाली चीजों पर अधिक (और अधिक दर में) लगाया जाय और साथ ही, गरीबों द्वारा उपभुक्त होनेवाली चीजों पर ये कर या तो बिल्कुल नहीं लगाए जायें या बहुत ही कम दर पर लगाए जायें। (५) सरकार कुछ उद्योग-धन्धों पर नियन्त्रण रखे और उद्योग-धन्धों का राष्ट्रीयकरण कर ले। (बैंकों और बीमा-कम्पनियों का राष्ट्रीयकरण और कृषि-

प्रधान देशों में जमीन्दारी का उन्मूलन परमावश्यक है) (६) सरकार कुछ उद्योग-धन्धों को आर्थिक सहायता-वाउण्टी या सबसिडी—दे और कुछ उद्योग-धन्धों पर कर लगावे जिससे उत्पादन के साधनों का वितरण आदर्श हो सके । (इनके सम्बन्ध में हम पीछे लिख आए हैं) । (७) सरकार श्रम-पूर्ति के पेशागत वितरण को भी प्रभावित करे । इसके विषय में भी हम पीछे लिख आये हैं । (८) वह एकाधिकारों का नियन्त्रण करे और प्रतियोगिता को पूर्ण बनाने के लिए योजनाकरण करे । संहारक विज्ञापनवाजी पर रोक लगा दे । (९) देश में रोजी के स्तर को दृढ़ और सुचारु बनाने के लिए सरकार योजनाकरण करे । (इसके बारे में हम आगे कुछ लिख रहे हैं) । (१०) सामाजिक सुरक्षा की योजनाओं को कार्यान्वित कर, पेन्शन, आदि की व्यवस्था कर, पारिवारिक अर्थ-सहायताएँ, राशनिक देकर सरकार गरीबों की उपभोग-शक्ति को बढ़ावे । (११) सूद की दर को कम करके, मुनाफा की मात्रा पूँजी की सीमांत उत्पादकता को बढ़ाकर, सरकार धनिकों की बचत-शक्ति को कम करके, पूँजी-निर्माण और पूर्ण रोजी को बढ़ावे । (१२) जीवन में काम आनेवाली सभी चीजों के उत्पादन की मात्राएँ सरकार निर्धारित कर दे और वैयक्तिक उत्पादकों पर उतनी ही मात्राओं में तैयार करने के लिए जोर डाले । इनका आवश्यकतानुसार मूल्य-नियन्त्रण भी हो सकता है ।

बेकारी की समस्या

हम पीछे पूँजीगत सामानों के विषय में काफी लम्बा-चौड़ा लिख चुके हैं । यह भी लिखा जा चुका है कि क्योंकि और किस तरह टिकाऊ-प्रयोग वस्तुओं का उत्पादन निरन्तर और क्रमवद्ध नहीं होता । बेकारी होती है मजदूरों को, लेकिन पूँजी-निर्माण में गतिरोध और परिवर्तन होने के कारण । बेकार वे लोग हैं जो चालू मजदूरी पर

(या कभी उससे भी कम मजदूरी पर) काम करने के लिए तैयार रहते हैं, लेकिन उनको काम नहीं मिलता । पूर्ण रोजी उस समय स्थापित होती है जब जितने आदमी (स्त्री-पुरुष) काम करना चाहते हैं काम पाये रहते हैं और यहाँ तक कि अगर कुछ लोग बिना काम के हैं भी तो उनकी संख्या से अधिक काम खाली रहते हैं जिनमें वे देर-सबेर उनमें लग जाते हैं ।

अब विचार करें कि बेकारी क्योंकर पैदा होती है और किस तरह फैलती है । स्थिर पूँजी (उदाहरण पीछे देखिये) का उत्पादन पूँजी-निर्माण-कन्सट्रक्शन—व्यापारों या उद्योगों में अव्यवस्थित और अनियमित होता है । पूँजी-निर्माण करने वाले उद्योग नई पूँजीगत वस्तुएँ बनाते, और पुरानी पूँजीगत वस्तुओं को बदलने और धिरी पूँजीगत वस्तुएँ की मरम्मत में मदद करते हैं । कार्यशील पूँजी (स्टॉक, या रिजर्व स्टॉक) का उत्पादन भी वैसा ही होता है । यह इसलिए कि उपभोक्ताओं की इच्छाएँ बदलती रहती हैं, वस्तुओं का उत्पादन बदलता रहता है और इसलिए सौदागरों का (और उत्पादकों का भी) गोदाम-घर में अधिक स्टॉकों का रखना आपदपूर्ण होता है । गोदाम-घर में इनको रखने में खर्च भी पड़ता है और अगर ये कम रखे गये तो बचत होती है । प्रकृति की हरकतों के चलते और मिथ्या सट्टेबाजी के कारण कभी-कभी अत्युत्पादन हो जाता है । जिससे एक-प्रयोग चीजों के सामने सड़ने-गलने के सिवाय और दूसरा चारा नहीं रहता । जब अभियों की फसल बेशुमार होती है तब कितने आम गाँवों पर ही नष्ट हो जाते हैं ! उनको बाजार तक पहुँचाने में यातायात-खर्च लगेगा लेकिन उत्पादन-धूम के जमाने में उसके लिए कौन फिक्र करता है ? अगर चीजें नष्टवान् न होकर गैर-नाशवान् हैं तो उनको थोड़ा-थोड़ा करके बाजार में खपाया जा सकता है, तब कम दुष्संतुलन होगा, लेकिन इसमें २-३ साल लग

जायेंगे और इस अभ्यन्तर उत्पादन या तो एकदम बन्द या मन्द होगा जिससे बेकारी बढ़ेगी। इन पूँजीगत चीजों की मांग भी (जैसा बता आये हैं) अव्यवस्थित और अनियमित होती है जिससे उनके उत्पादन में गड़बड़ी होती है। इतना ही नहीं, उनकी मांग बदलती भी है। नई-नई पूँजीगत, टिकाऊ-प्रयोग वस्तुओं का अनुसन्धान और आविष्कार होता है। इससे भी गड़बड़ी होती है। उत्पादक ऐसे उद्योगों में कम पूँजी-विनियोग करते हैं, क्योंकि उनमें मुनाफा को दर घट रही है। इससे दो बातें हो सकती हैं—(१) कम मजदूरी पर सभी मजदूर जो कामकर रहे हैं रखे जायँ या (२) यदि मजदूरी उतनी देनी है तो कम मजदूर रखे जायँ। मजदूर-संघों और सरकारी नियन्त्रण के कारण पहली बात असंभव नहीं तो मुश्किल बहुत है। आमतौर से दूसरी बात होती है। मजदूर बेकार हो जाते हैं। दोनों दशाओं में मजदूरों की क्रय-शक्ति कम हो जाती है। वे उपभोग की वस्तुओं और सेवाओं के लिए कम प्रभावोत्पादक मांग करते हैं। इनके उत्पादक इन्हें पूँजीगत सामानों अर्थात् टिकाऊ-प्रयोग उत्पादक-वस्तुओं से ही बनाते हैं। जब इनकी मांग घट रही है तब उन्हें इनका उत्पादन भी कम करना पड़ता है और इससे टिकाऊ-प्रयोग उत्पादक चीजों की मांग भी घटती जाती है। एक संक्रामक रोग की तरह दोनों प्रकार के उद्योग-उत्पादक-वस्तुओं और उपभोक्ता-वस्तुओं के—बुरी तरह प्रभावित होते हैं और उनमें बेकारी फैलती और बढ़ती जाती है। यह तो अस्वाभाविक काल की बात हुई। स्वाभाविक-नॉर्मल—काल में भी बेकारी रहती है। वह भी प्रभावोत्पादक मांग की अपर्याप्तता की संतति है। समाज में मोटा-मोटी दो ही वर्ग रहते हैं—धनी और गरीब। धनिकों की आय बढ़ी होती है। लेकिन उनके उपभोग की प्रवृत्ति धन-संग्रह करने की प्रवृत्ति से परिमाण में कम है। दूसरी ओर, गरीबों की आय कम होती है और उनकी उपभोग करने की प्रवृत्ति बढ़ी होती तो है, लेकिन वे परिस्थितिवश लाचार रहते हैं। उद्योग-

धंधों में जो सम्पूर्ण पूँजी-विनियोग हुआ रहता है वह घटता-बढ़ता क्यों है ? यह हम पीछे बता आये हैं । लेकिन यहाँ कुछ और लिख देना है । आज की व्यावसायिक दुनिया में धन-संग्रह करने वालों और धन-लगाने वालों का वर्ग अलग-अलग है (अर्थात् हम पाते हैं कि धन-लगाने और धन-बचाने वाले एक ही व्यक्ति होते हैं) । दोनों वर्ग दो प्रतिकूल शक्तियों से परिचालित होते हैं । पूँजी-विनियोग प्रधानतया पूँजी की सीमान्त निपुणता पर [अर्थात् लाभ की मात्रा पर जो सूद की दर में थोड़ा परिवर्तन (बढ़ने घटने) होने से बहुत बदल जाती (घट-बढ़) है], लोगों की पूँजी की तरल बनाए रखने की जो विशेष तरजीह उसपर, अर्थात् पूँजी-विनियोग-संबंधी आशंका, मुनाफे की दर, सूद की दर, माँग की स्थिति, आदि पर निर्भर करता है । पूँजी-संग्रह, दूसरी ओर, लोगों की संग्रह-प्रवृत्ति (देखिये 'पूँजी का विकास' अंश), आय-स्तर और आय-वितरण के स्वरूप की देन है ; ये प्रवृत्तियाँ प्रतिकूल हैं जिससे समाज के पूर्ण पूँजी-संग्रह और पूर्ण पूँजी-विनियोग में अन्तर हो जाता है । समाज की समूची आमदनी उसके सम्पूर्ण उपभोग और सम्पूर्ण पूँजी-विनियोग के बराबर होती है । सम्पूर्ण बचत, सम्पूर्ण आमदनी और सम्पूर्ण उपभोग का अन्तर है होता । इस तरह सम्पूर्ण बचत और सम्पूर्ण पूँजी-विनियोग समान हुए । जब उनमें अन्तर होता है तो वह "नहीं व्यय करना" (नन-स्पेन्डिङ्ग) है । अगर सम्पूर्ण बचत बढ़ रही है तो सम्पूर्ण पूँजी-विनियोग के घटने से सम्पूर्ण आमदनी कम हो जायगी और सम्पूर्ण बचत सम्पूर्ण पूँजी-विनियोग के बराबर हो जायगी । इसकी प्रतिकूल स्थिति उसी तरह सत्य होगी । सरकार को इस अन्तर को स्वयं आय-व्यय कर दूर करना होगा या ऐसे उपाय करने होंगे कि लोग ही दूर कर दें, लेकिन दूसरा रास्ता कठिन है । प्रधानतया दोनों को मिलाकर सरकार काम करती है । उत्पादकों पर यदा-कदा औद्योगिक संघर्षों, सरकार (देशी और विदेशी) की

व्यापार नीति और मौद्रिक और बैंकिङ्ग नीतियों का असर पड़ता है जिससे वे प्रतिकूल या अप्रतिकूल रूप से प्रभावित होते हैं । राजनैतिक घटनाओं—युद्ध, आदि—से कितनी स्थिर पूँजी-वस्तुएँ अपनी मियाद के पहले ही खत्म जाती हैं और उनको तुरत बना लेना कठिन है । युद्ध के बाद सेना कम करने पर बहुत से लोग जो उसमें या उससे संबंधित और युद्धगत उद्योगों में लगे थे, बेकार हो जाते हैं ! चूँकि आधुनिक पूँजीवादी उत्पादन-क्रिया बड़ी चक्करदार है, इसलिये उसमें कभी-कभी दिककत पैदा हो जाती है, जिससे रोजी घट जाती है । यदि देश-देश के बीच व्यापारिक सहयोग नहीं रहे, तो एक देश अपना आयात कम करके दूसरे देश में बेकारी पैदा (स्थानान्तरित !) कर सकता है । कृषि-प्रधान देश में फसलों के मारे जाने पर उद्योग-प्रधान देशों में, जो तैयार माल बनाते हैं, पर्याप्त कच्चे मालों के नहीं मिलने से बेकारी फैल जाती है । ऐसा भी संभव है कि इनमें ही पहले मन्दी या व्यापारिक अवनति शुरू हो और वे कच्चे मालों को पुराने परिमाण में लेना बन्द कर दें जिससे उनमें भी बेकारी फैल जाय ।

यदि सरकार बेकारी को दूर करना चाहती है तो उसे निम्न-लिखित उपायों को काम में लाना होगा :—(१) सार्वजनिक कार्य-नीति जिसके अनुसार सरकार वैयक्तिक पूँजी-विनियोग में कमी (वृद्धि) होने पर अपने सार्वजनिक पूँजी-विनियोग में वृद्धि (कमी) करके पहले के कारण बेकार हुए लोगों को लगाएगी जिससे उनकी क्रय-शक्ति और प्रभावोत्पादक माँग कम नहीं होने पावे । सरकार घाटा-पत्रक (डेफिसिट ब्रैजेट) बनाएगी और धनी लोगों से मुद्रा उधार लेगी । उस मुद्रा से वह इन कार्यों को सम्पादित करेगी । उस मुद्रा के एक अंश को वह लोकोपकारी कार्यों (जैसे-पेन्शन, मातृत्व-सहायता, शिशुओं के उपभोग पर व्यय क्योंकि उनको अधिकाधिक दूध पिलाने से बढ़कर कोई अधिक मानवीय कार्य है ही नहीं, प्रभृति) से समाज के एक

जबरदस्त अंग की क्रय-शक्ति और तदजन्य उपभोग-शक्ति बढ़ा सकती है। वेवाओं को भी वह आर्थिक सहायता दे सकती है। इससे उनकी भी उपभोग-शक्ति की वृद्धि होगी। (२) वह मौद्रिक और बैंकीय उपायों द्वारा सूद की दर को कम (अधिक) करके वैयक्तिक मुनाफे की दर को अधिक (कम) करके उत्पादकों को पूँजी-विनियोग को बढ़ाने के लिए प्रोत्साहित कर सकती है। (३) वह प्रत्यक्ष करों की दरों को बढ़ाकर (और उन अप्रत्यक्ष करों की दरों को कम करके जिनसे गरीब लोग प्रभावित होते हैं) उनसे प्राप्त आय को समाज की भलाई में और पूर्ण रोजी की स्थापना में खर्च कर सकती है। इससे समाज की आर्थिक असमानता कम होगी। (४) आवश्यकतानुसार वह 'शर्मिली पूँजी' को प्रोत्साहित करने के लिए उसके 'स्वामियों' के ऊपर कम आय-कर लगा सकती है या प्रेरणा-कर की नीति (जिसके अनुसार जितना ही अधिक पूँजी वे लगायेंगे उतना ही कम उनको आय-कर देना होगा) अख्तियार कर सकती है। (५) सरकार को मजदूरों की गतिशीलता—मौत्रिलिटी—को भी बढ़ाना चाहिए जिससे वे मजदूरी की स्थानगत कमी-बेशी से लाभ उठा सकें। (६) सरकार को उद्योग-धंधों की स्थिति पर भी ध्यान देना चाहिए। ऐसा न हो कि एक ही स्थान में आवश्यकता से अधिक एक ही तरह के या सम्पूरक उद्योग-धंधे खुल जायँ जिससे वहाँ के मजदूरों को और ग्राम जनता का स्वास्थ्य खराब हो जाय और गन्दगी फैले और अधिक किराया घर, आदि के लिए देना पड़े और साथ ही दूसरी जगह उन उद्योग-धंधों का अभाव हो जाय जिससे अधिक यातायात-खर्च से उन चोजों को वहाँ पहुँचाने के कारण उनके अधिक दाम देने पड़ें, और इस समय देश के स्थान-स्थान के बीच वहाँ की स्थानीय आबादी और उसके लिए प्राप्य कानों की संख्या में अन्तर पड़ जाय। (७) सरकार पूँजी-विनियोग को प्रोत्साहित करने के लिए 'हरा पनीर' (ग्रीन चीज) अर्थात् पत्र-मुद्रा भी छापकर बिना सूद के ऋण में

उद्योगपतियों को दे सकती है। लेकिन मुद्रा-स्फोति की अनेकानेक त्रुटियाँ हैं। अतएव इस साधन को अत्यन्त कम अंश में अपनाया जा सकता है। चूँकि बेकारी बेहद आर्थिक स्वतंत्रता का मूल्य है इसलिए उसको दूर करने के निमित्त आर्थिक स्वतंत्रता को कम करना होगा। बेकारी के दानव को परास्त करने के लिए धुच-फेर आक्रमण से काम नहीं चलेगा, उसके लिए चौतरफा चढ़ाई की जरूरत है। उसके लिए पूँजीवादी और स्वतन्त्र अर्थ-प्रणाली की पूरी आयोजना करना होगा।

मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन

हम जानते हैं कि किसी देश की मुद्रा का मूल्य सर्वदा स्थिर नहीं रहकर बदलता रहता है। कभी उसका मूल्य बढ़ जाता है और कभी वह घट जाता है। इसे “मुद्रा का मूल्य” कहते हैं। ऐसा क्यों होता है? हम ‘मुद्रा’ शीर्षक अंश में बतला आए हैं कि मुद्रा स्वयं उपयोगी वस्तु नहीं क्योंकि, उसका काम विनिमय के माध्यम, मूल्य के मापक और स्थगित प्रदायों के मापदंड का काम करना है। जो वस्तु ये कार्य करे और जो सामान्यतया स्वीकृत हो, जो टिकाऊ हो, (समय की सापेक्ष दृष्टि से) वही मुद्रा है। पहले जमाने में बकरी मुद्रा का काम करती थी तो कहीं गाय। बाद में सोना-चाँदी को यह पद प्राप्त हुआ। उनके बाद पत्र-मुद्रा आई है। कागज के नोट का अपना मूल्य क्या है? मान लीजिए कोई सरकार हार जाय और विदेशी सरकार उसकी जगह बने और वह घोषणा करे कि पुरानी सरकार के नोट नहीं चलेंगे तब क्या होगा? लड़ाई के जमाने में देहात के अनपढ़ लोग, जो मुद्रा के वास्तविक अर्थ को नहीं जानते होते हैं, ऐसी शंका प्रकट भी करते हैं। जब ऐसी बात होगी तब पुराने कागजी नोटों को कौन लेगा? रद्दी कागज के भाव भी तो वे नहीं बिकेंगे क्योंकि उनमें चीजें लपेटकर बेंची भी

नहीं जा सकती। अगर सरकार चाहे और लोग राजी-आमादा हो जायँ तो सिगरेट का डिब्बा भी कल से मुद्रा का काम करने लगे ! नमक मुद्रा का काम नहीं कर सकता, क्योंकि उसमें टिकाउपन बहुत ही कम है अतएव कोई भी टिकाऊ और वहनीय वस्तु मुद्रा का काम कर सकती है। मुद्रा का काम तो विनिमय की प्रणाली—मूल्य की प्रणाली—को सुचारु रूप में चलाने में मदद करना है। तो मुद्रा में अप्रत्यक्ष या विनिमयगत मूल्य होता है। उसके बदले में हम चीज वा सेवा खरीद सकते हैं। हम विचार करें कि उसके मूल्य में कैसे परिवर्तन होता है। मान लीजिए बाजार में बिकनेवाली चीजों और सेवाओं के मूल्य बढ़ रहे हैं, महँगी शुरू हो रही है। नतीजा होगा कि मुद्रा की एक इकाई के बदले में कोई सेवा या चीज पहले से कम मात्रा में मिलेगी, उसका मूल्य कम हो जायगा। जब उनके मूल्य घटने लगेंगे और सस्ती शुरू होगी तब मूल्य अधिक हो जायगा। चीजों और सेवाओं के मूल्यों की औसत को हम सामान्य मूल्य-स्तर कहते हैं। इस तरह मुद्रा के मूल्य में जो परिवर्तन होता है वह सामान्य मूल्य-स्तर में होने-वाले परिवर्तन की प्रतिकूल या विपरीत दिशा में होता है। हम इस अंश में इसी पक्ष पर प्रकाश डालेंगे। लेकिन इसके पूर्व एक अन्य विषय की परीक्षा कर लेनी है। वह मुद्रा के मूल्य-परिवर्तन का एक पुराना सिद्धांत है जिसे 'मुद्रा का परिमाण सिद्धांत' कहा जाता है। इसमें बत-लाया जाता है कि मुद्रा का मूल्य उसके परिमाण का परिणाम (फंक्शन) है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि अगर किसी देश में मुद्रा की जो पूर्ति है वह बढ़ (घट) जाय तो उसका मूल्य (क्रय-शक्ति) घट (बढ़) जायगी। मुद्रा की अधि-स्फीति (इन्फ्लेशन) के काल में उसका मूल्य कम (डिप्रिशियेशन) और मुद्रा की अपस्फीति (डिफ्लेशन) के काल में उसका मूल्य अधिक (ऐप्रिशियेशन) हो जाता है। लेकिन मुद्रा की पूर्ति में होनेवाले परिवर्तन के ठीक अनुपात में उसके मूल्य में भी परिवर्तन हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता। दीर्घ-

कालीन अवधि में ऐसा हो भी सकता है लेकिन लघुकालीन अवधि में व्यापार-चक्रों की उपस्थिति में सामान्य मूल्य-स्तर में जो परिवर्तन होते हैं वे केवल मुद्रा-पूर्ति के परिवर्तन से ही नहीं समझाए जा सकते, उनके लिए, जैसा कि पीछे लिख आए हैं, हमें पूँजी-विनियोग और पूँजी-संग्रह के बीच की समता के भंग होने की बात, मनोवैज्ञानिक कारणों और सरकार की राजस्व-नीति को भी लेना होगा, क्योंकि ये भी सामान्य मूल्य-स्तर को प्रभावित कर मुद्रा के मूल्य को प्रभावित कर सकते हैं। मुद्रा का मूल्य केवल मुद्रा-पूर्ति और सामान्य मूल्य-स्तर और व्यापार की राशि (भौल्यूम) के द्वारा ही प्रभावित नहीं होगा वरन् वह मुद्रा की गति (मेलोसिटी) के द्वारा भी परिचालित होगा। मुद्रा की गति का दृष्टान्त हम “मुद्रा” के प्रसंग में दे आये हैं। उसमें दिखाया गया है कि किस तरह मुद्रा की एक इकाई कई इकाइयों का काम अकेले कर सकती है। अगर एक इकाई की गति अधिक है तो उसका मूल्य अधिक होगा और अगर वह कम है, तो उसका मूल्य भी कम होगा।

देशनांक या सूचनांक

मुद्रा के मूल्य में और सामान्य मूल्य-स्तर (प्राइस-लेवेल) में होने वाले परिवर्तनों को हम नापने के लिए अक्सर देशनांक—इण्डेक्स नम्बर—की सहायता लेते हैं। देशनांक देश की वर्ष-वर्ष की आयों, उत्पत्तियों (कृषिगत या उद्योगगत), रोजी व आयों, उपभोगों और उत्पादनों, पूँजी-संग्रहों और पूँजी विनियोगों, आदि की तुलना करने के लिए भी बनाए जाते हैं। देशनांक का स्थान अर्थशास्त्र में वही है जो न्यूटन लाँ का प्राकृतिक विज्ञान में है। यह एक सांख्यिक साधन है जिसके जरिए हम देश में समय-समय के मध्य चीजों और सेवाओं के मूल्यों में होनेवाले परिवर्तनों के कारण

सामान्य मूल्य-स्तर में होनेवाले परिवर्तनों को बतलाते हैं और उसके निष्कर्ष से हम मुद्रा के मूल्य में होनेवाले परिवर्तनों को भी बताते हैं। हम कहते हैं कि अगर सामान्य मूल्य-स्तर बढ़ (घट) रहा है तब मुद्रा का मूल्य घट (बढ़) रहा है। मुद्रा के मूल्य से, स्मरण रहे, हमारा तात्पर्य उसकी क्रय-शक्ति से है। लेकिन बाजार में किसी समय सभी चीजों और सेवाओं के मूल्यों में एक साथ ही परिवर्तन नहीं होता और एक ही अनुपात में और एक ही दिशा में और एक ही गति से नहीं होता। ऐसा हो सकता है कि किसी-किसी चीज का मूल्य बढ़ने (घटने) के बजाय घटता (बढ़ता) जाय, किसी चीज का मूल्य तेजी से बढ़े, किसी का धीरे से। फिर भी, किसी समय चीजों और सेवाओं के सामान्य मूल्यों में सामान वृद्धि या हास की एक उभयनिष्ठ प्रवृत्ति होती है जिसे हम उनका महत्तम समापवर्तक (एच० सी० एफ०) कह सकते हैं। देशनांक का काम इसी सामान्य प्रवृत्ति, इसी महत्तम समापवर्तक को दर्शाना है।

देशनांक को बनाने के लिए अग्रलिखित तत्वों की आवश्यकता पड़ती है:—(१) आधार-वर्ष:—हम एक स्वभाविक-नॉर्मल—वर्ष के लगाव में (अर्थात् उसमें चुनकर रखी चीजों और सेवाओं की कीमतों में से प्रत्येक को १०० मानकर) जिस वर्ष का अध्ययन कर रहे हैं उसमें 'उन्हीं' चीजों और सेवाओं के चालू मूल्यों को प्रतिशत के हिसाब से रखते हैं। (२) वस्तुओं का निर्वाचन—हम जिस वर्ग की पृष्ठभूमि में अध्ययन कर रहे हैं उसीके द्वारा उपयुक्त वस्तुओं और सेवाओं को रखते हैं। इससे उनके जीवन-परिव्यय (कॉस्ट-ऑफ लिभिङ्ग) का पता लगता है और इसको जीवन-परिव्यय देशनांक कहते हैं। इसके लिए खुदरा बिक्री (रिटेल-सेल) के मूल्यों को ग्रहण करना पड़ता है। (३) उनकी संख्या:—हमें उनकी ऐसी संख्या में ग्रहण करना पड़ता है जिससे वस्तु-स्थिति का पूरा पता

भी लग जाय और देशनांक बनाना भी कठिन न हो। आम तौर से ४०-५० के बीच में उनकी संख्या होती है। (४) उनके मूल्यों का एकत्रीकरण:—थोक बिक्री—होल सेल—मूल्यों को आसानी से एकत्र किया जा सकता है। उनसे जो देशनांक बनाया जाता है उसको “थोक बिक्री देशनांक कहते” हैं। जीवन-परिव्यय देशनांक के लिए खुदरा-बिक्री मूल्यों को लिया जाता है, क्योंकि उन्हें ही देकर उपभोक्ता बहुत उपभोग करते हैं। (५) औसत निकालना:—आधार वर्ष के मदों के मूल्यों की औसत तो १०० हो रहेगी लेकिन अध्ययन किए जानेवाले वर्ष की औसत दूसरी होगी। औसत के तीन भेद होते हैं:—एरिथमेटिक, ज्योमेट्रिक और हारमोनिक। ज्योमेट्रिक औसत से असलियत का बाखूबी पता लगता है (६) महत्वांकन-बेट देना:—हर चीज के मूल्य-परिवर्तन से उपभोक्ताओं के ऊपर समानुपात में प्रभाव नहीं पड़ता। भोजन-वस्त्र के मूल्यों में जरा-सा परिवर्तन और अन्य चीजों के मूल्यों में जरा-सा परिवर्तन—दोनों बराबर प्रभाव नहीं डालेंगे। पहले के कारण अधिक और दूसरे के कारण कम तकलीफ हो सकती है। इसलिए पहले का महत्त्व दूसरे से अधिक है। इसीको दर्शाने के लिए या तो पहले की कुछ किस्मों को एक साथ ग्रहण करते और दूसरे की केवल एक ही किस्म रखते या पहले के मूल्य को एक अधिक संख्या से (जो उसके महत्त्व की द्योतक होती है) और दूसरे के मूल्य को एक कम संख्या से (जो उसके महत्त्व की द्योतक-होती है) गुणा करके दोनों संख्याओं के योगफल से उनके प्रतिशत व्यक्त परिणामों के योगफल को विभक्त कर देते हैं। (७) नई चीजों और सेवाओं का विचार—कभी कभी नए वर्ष में इनका प्रवेश होता है और ये उपभुक्त होती है, इसलिए इनका विचार करना जरूरी हो जाता है। चूंकि पहले वर्ष में ये नहीं रहतीं; इसलिए इनका देशनांक अलग से बनाकर तुलना द्वारा निकले देशनांक को उससे संबंधित कर देते हैं।

देशनांक बनाने की इस विधि में इन तत्वों को लेकर व्यावहारिक कठिनाइयाँ हो सकती हैं, खासकर महत्वांकन करते समय मनमाना हो सकता है। लेकिन सावधानी से काम करने पर जो देशनांक हम बनाएँगे वह विश्वसनीय होगा। यह ठीक है कि ज्यों ही हम प्रत्यक्ष तथ्य के निश्चित धरातल का परित्याग करते हैं त्यों ही हमें एक अत्यन्त कुहासापूर्ण वातावरण में अंकगणित के चिह्नों-प्रतीकों के साथ माथापच्ची करना पड़ता है। लेकिन दूसरा चारा ही क्या है ?

राष्ट्रीय आय का वास्तविक मूल्य

मान लीजिए हम किसी देश की राष्ट्रीय आय, जो १९५१ में और जो १९५२ में थी, के ऊपर विचार कर रहे हैं। फिर, फर्ज कीजिए कि संयोगवश दोनों वर्षों में राष्ट्रीय आय बराबर होती है। तो क्या हम कह सकते हैं कि दोनों वर्षों में राष्ट्रीय उपज भी बराबर हुई, क्योंकि राष्ट्रीय आय तो राष्ट्रीय उपज की ही मुद्रागत माप है ? इसका उत्तर होगा कि बशर्ते दोनों वर्षों में सामान्य मूल्य-स्तर स्थिर और समान रहा हो, दोनों वर्षों में समान राष्ट्रीय उपज हुई। अगर १९५२ में १९५१ की तुलना से मूल्य-स्तर अधिक था तो १९५२ की राष्ट्रीय उपज १९५१ की राष्ट्रीय उपज से कम होने पर भी समान मूल्य की हुई। अतएव हम देखते हैं कि राष्ट्रीय आय से हम राष्ट्रीय उपज का (जो उसका यथार्थ पर्याय है) अन्दाज नहीं लगा सकते, जबतक कि हम उसको सामान्य मूल्य-स्तर की कसौटी पर नहीं कसते हैं। राष्ट्रीय आय का मूल्य मुद्रा की क्रय-शक्ति या मूल्य पर निर्भर करता है। राष्ट्रीय उपज का मौद्रिक रूप राष्ट्रीय आय भले ही बटे लेकिन अगर राष्ट्रीय उपज ज्यों-की-त्यों या अधिक रहे तो वही स्वीकार्य है। एक उदाहरण नीचे दिया जा रहा है :—

वर्ष	मौद्रिक राष्ट्रीय आय (करोड़ में)	मूल्य-स्तर	राष्ट्रीय आय का वास्तविक मूल्य
१९५०	१००	१००	$१०० \times \frac{१००}{१००} = १००$
१९५१	१००	१२०	$१०० \times \frac{१००}{१२०} = ८३\frac{१}{३}$
१९५२	१००	१२५	$१०० \times \frac{१००}{१२५} = ८०$

दो वर्षों की राष्ट्रीय आयों के वास्तविक मूल्यों का लगाव नीचे के सूत्र से निकाला जाता है :—

दो वर्षों की राष्ट्रीय आयों का लगाव

दो वर्षों के मूल्य-स्तरों का लगाव

कहाँ तक राष्ट्रीय आय राष्ट्रीय आर्थिक सुख, या प्रगति का मापक है ?

किसी देश की राष्ट्रीय आय को उसकी आर्थिक प्रगति या सुख का एकान्त मापक मानने में निम्नलिखित अड़चनें हैं, क्योंकि राष्ट्रीय आय का परिमाण, सम्पत्ति का वर्णन नहीं, वह उसकी निर्देशिका मात्र है। (इन्डेक्स, नॉट डिस्क्रिप्शन, ऑफ वेल्थ)। ये अड़चनें इसलिए हैं कि राष्ट्रीय आय मुद्रा के रूप में व्यक्त किए विविध वस्तुओं और सेवाओं के मिश्रित समूह या टोकरी ! या पारसल !! से बनी होती है। चूँकि इनके मिश्रित समूह को जोड़ने का और कोई तरीका नहीं है, इसलिए हमें मुद्रागत माप का आश्रय लेना पड़ता है। जब हम आर्थिक भलाई या प्रगति के अर्थ के सम्बन्ध में ही सहमत नहीं हों, जब हम मानें कि वह सापेक्षिक चीज है (काली कोठरी में काली टोप की तरह है !) तब तो हम किसी दशा में राष्ट्रीय आय और राष्ट्रीय

आर्थिक सुख को तुलना कर ही नहीं सकते। अगर किसान गेहूँ की अधिक उपज को और पूँजीपति मकखन की अधिक उपज को अधिक राष्ट्रीय स्मृद्धि का बोधक माने तो माथा-पच्ची करना ही बेकार है। अगर इस विवाद को भुला दें तब भी ये अड़चनें सामने हैं।

(१) राष्ट्रीय आय नहीं बतलाती कि इन वस्तुओं और सेवाओं के समूह का वितरण समाज के विभिन्न वर्गों के बीच किस तरह से हुआ है और जब तक हम इस वितरण की रूप-रेखा नहीं जानते तब तक हम केवल राष्ट्रीय आय को देख नहीं कह सकते कि उसके बढ़ (घट) जाने से राष्ट्रीय सुख (आर्थिक प्रगति) बढ़ (घट) गई। (२) राष्ट्रीय आय में केवल वे ही सेवाएँ आती हैं जिनका क्रय-विक्रय होता है, जो विनिमय-साध्य हैं, लेकिन उसमें वे सेवाएँ नहीं आती (देखिए “सेवाएँ” शीर्षक अंश) जिनका क्रय-विक्रय नहीं होता। यह कहना केवल आवृत्ति होगी कि देश की आर्थिक प्रगति या सुख इनपर कम निर्भर नहीं है। अतएव राष्ट्रीय आय निकालने की यह प्रणाली दूषित है। (३) राष्ट्रीय आय से तो हमें इस बात का पता नहीं चलता कि उसमें श्रम का कितना प्रयास लगा है। अगर श्रम के कम खटने और अधिक अवकाश पाने पर किसी साल पहले जितनी राष्ट्रीय आय (या उससे अधिक) होती है तो वही अच्छी कही जायगी। हम “श्रम के प्रयास” अंश में लिख आये हैं कि कैसे काम करने के घंटों की संख्या में कमी होने से केवल श्रमिकों को ही फायदा नहीं होता बल्कि समाज का भी विकास होता है और उत्पादन में वृद्धि भी होती है। आज के जमाने में अवकाश भी एक आर्थिक वस्तु बन गया है। किसी चीज के उत्पादन में श्रमिकों को जो त्याग करना पड़ता है और कष्ट सहन करना पड़ता है वह केवल मजदूरी से ही नहीं पूरा हो जाता। वह उसका वास्तविक (रियल) व्यय है, उसका मौद्रिक व्यय उसको तैयार करने के लिए उत्पादन के साधनों, कच्चे मालों पर खर्च किया हुआ व्यय है। उत्पादनकर्ता मजदूरों

के इस कष्ट और त्यागका मूल्य नहीं देते, वे उनकी सच्ची उत्पादकता के बराबर मूल्य भी नहीं देते, क्योंकि मार्क्स के अनुसार उससे कम मजदूरी देकर वे “अतिरिक्त लाभ” (सरप्लस मैल्यू) अर्जित करते हैं। (४) कुछ सार्वजनिक सेवाओं को राष्ट्रीय आय में सम्मिलित किया जाय या नहीं इसको लेकर अर्थशास्त्रियों में मतभेद है और प्रतिकूल मतवाले एक मत से निकाली राष्ट्रीय आय को स्वीकार नहीं कर सकते। उदाहरण के लिए सरकार की ऐसी सेवाएँ जो न्याय, व्यवस्था, और रक्षा करने के लिए सम्पन्न की जाती हैं, जो उन्हें राष्ट्रीय आय में रख सकते हैं वे इस तर्क पर कि वे उपभोक्ताओं की इच्छाओं को प्रत्यक्षतया संतुष्ट करती हैं। जो उन्हें राष्ट्रीय आय में नहीं रखते वे इस तर्क पर कि वे केवल दूसरी चीजों और सेवाओं को, जिनका हम उपभोग करते हैं, तैयार करने में केवल सहाय्यता देती हैं और यदि उनको शामिल कर लें तो यह “द्वैत-गणना” होगी। लेकिन यह बतलाना कि वे कब प्रत्यक्ष और कब अप्रत्यक्ष होती हैं बहुत कठिन है। इसलिए ग्रेट-ब्रिटेन में सभी सार्वजनिक सेवाओं को राष्ट्रीय आय में रख लेने की प्रथा है। लेकिन हमें इतना मानने में कोई हिचकिचाहट नहीं होगी कि बन्दूकों और तोमों, बमों और जहाजों के अधिक निर्माण से भले ही राष्ट्रीय आय बढ़ जाय उससे उतना राष्ट्रीय सुख या प्रगति नहीं होती जितना कि मक्खन के परिमाण, मीठी रोटियों और नीरा की मात्रा के बढ़ने पर ! युद्धकाल में लोगों के उपभोग-सम्बन्धी कष्ट बढ़ जा सकते हैं, क्योंकि उपभोक्ता की वस्तुओं का गुरुतर अभाव रहता है। सैनिकों के कष्ट का तो पारावार ही नहीं। युद्धोत्तर काल में कष्ट कम हो जाता है। लेकिन युद्धकाल में कुछ लोग कष्टों के इतने आदी हो जाते हैं कि जल्दी से वे युद्धोत्तर सुख-साधनों का उपभोग नहीं कर पाते। यह वैसा ही है जैसा हम पाते हैं कि जिस कुत्ते को केवल मझुली या पचौनी पर पाला गया है वह कुछ दिनों तक भूखा रहेगा तभी वह सुस्वादु हड्डियों

का जायका ले सकता है ! फिर भी देश को गुलाम होने से बचाने और अपनी आजादी को सुरक्षित रखने से जो सन्तोष मिलता है उसको चिन्दी कौन कर सकता है ? (५) जनसंख्या की समस्या:—हम पीछे जनसंख्या को सम्पूर्ण और कार्यशील दो भागों में बाँट आए हैं। ज हमव प्रतिजन राष्ट्रीय आय को निकालते हैं तब सम्पूर्ण जन-संख्या से भाग देते हैं। अगर किसी साल पहले साल की अपेक्षा आबादी बढ़ गई तो अवश्य ही प्रतिजन आय कम हो जायगी। लेकिन आबादी इसलिए बढ़ गई कि मुँहवाले कुछ बच्चे पैदा हो गये। लेकिन बच्चों की संख्या की वृद्धि से देश की आर्थिक अवनति नहीं हो जाती। ये ही बच्चे, जो दो हाथ लेकर आते हैं, आगे चलकर राष्ट्रीय आय को बढ़ाने में मदद करेंगे। अतएव राष्ट्रीय आय की तुलना दो वर्षों के बीच करने के लिए हमें कार्यशील जनसंख्या से सम्पूर्ण राष्ट्रीय आय को भाग देना चाहिये, न कि सम्पूर्ण जनसंख्या से। हम पीछे बता आये हैं कि कार्यशील जनसंख्या कैसे निकाली जाती है। (६) एक अन्य संशय राष्ट्रीय आय के मुद्रागत संख्या होने के कारण है। जबतक इसको हम मूल्य-स्तर के हिसाब में नहीं रखते तबतक हम नहीं बतला सकते कि देश की वास्तविक आय अर्थात् विविध चीजों और सेवाओं की विसात क्या है और जबतक हम इसको नहीं जानते तब तक हम राष्ट्र के आर्थिक सुख या प्रगति का कोई निश्चित खाका नहीं दे सकते। इसकी क्रिया क्या है, वह हम पूर्ववर्ती परिच्छेद में दे आये हैं। (७) अन्तिम त्रुटि इस बात को लेकर है कि राष्ट्रीय आय की गणना में हम मुद्रागत (मनी) व्यय को ही माप-दंड मानते हैं, न कि वास्तविक (रिअल) व्यय को। वास्तविक व्यय को आधार मानना अधिक सम्मत होगा। मुद्रागत व्यय किसी वस्तु के उत्पादन में लगे मौद्रिक खर्च हैं जो उत्पादन के साधनों और कच्चे मालों, आदि पर बैठते हैं। वास्तविक व्यय किसी चीज के उत्पादन के हेतु किया गया कष्ट तथा त्याग है। इतना ही नहीं, किसी

वस्तु के वैयक्तिक उत्पादन-व्यय और उसके सामाजिक उत्पादन-व्यय में भी कलह है। कितनी चीजों को उत्पन्न करने से मजदूर-मजदूरियों के स्वास्थ्य पर बड़ा ही अहितकर प्रभाव पड़ता है, उनकी आयु कम हो जाती है। कितनी चीजों के उत्पन्न करने से धुआँ, बू और कोला-हल की पैदाइश होती है जिससे उनकी उद्योग-शालाओं के इर्द-गिर्द में रहनेवाले लोगों को शारीरिक तकलीफ होती है, नाक में से 'शूट' निकलता है, कपड़ों को धुलाने में बहुत खर्च करना पड़ता है, नींद हराम हो जाती है, दवा-दारू में अत्यधिक व्यय करना पड़ता है। इन लोगों को जो ये आनुषंगिक (इन्सीडेन्टल) क्षतियाँ होती हैं, जो व्यय करने पड़ते हैं, उनको तो इन चीजों का उत्पादनकर्त्ता उनके व्ययों (तदर्थ मूल्यों) में सम्मिलित नहीं करता। जाने दीजिए इस बात को। कम-से-कम सरकार जब राष्ट्रीय उत्पत्ति का मौद्रिक मूल्यकरण कर रही है तब तो कम-से-कम इन विस्तृत व्ययों को तो घटाना चाहिये जिससे देश की सच्ची आय का पता लगे। जो तो होता ही नहीं !

लगान

अर्थशास्त्र में लगान भूमि ("भूमि" में आने वाली हर चीज को लगान मिलता है) का दाम या पारिश्रमिक है। उसके दो रूप होते हैं—आर्थिक या खालिस लगान, जो मिट्टी की मौलिक और अक्षय शक्तियों के बदले में दिया जाता है—(देखिये "भूमि" शीर्षक अंश) और बेखालिस लगान, जिसमें आर्थिक लगान के साथ भूपति द्वारा भूमि में लगाई पूँजी पर का सूद, उसके कर्मचारियों की मजदूरी और लगान पर लगाते समय जो जोखिम वह वहन करता है और लगान वसूलने में जो कठिनाई उसको होती है उनके लिए मुआवजा की रकम भी सम्मिलित रहती है। अतएव बेखालिस लगान आर्थिक लगान से हरदम अधिक होता है। समभौतागत

कनट्रैक्चूरल-लगान, जिसपर आज की दुनिया में रैयत अपने जमीन-मालिक से जमीन हँडा पर लेता है वह बिल्कुल दूसरी चीज है और वह मनमाना हो सकता है। एक बतौर-क्वाजाई—लगान होता है। वह किसी वस्तु या सेवा की पूर्ति के किसी काल में अपेक्षाकृत स्थिर या लोचहीन और मांग से कम होने के कारण उसके मूल्य के सहसा बढ़ जाने के कारण उसके स्वामी को मिलता है जब तक कि उसकी पूर्ति बढ़ न जाय और उसका मूल्य पूर्ववत् अर्थात् स्वाभाविक हो जाने से वह खत्म न हो जाय।

लगान सीमान्त उत्पादकता का 'ओभर्स' है। सूद, मुनाफा और मजदूरी—सब में लगान (बचत) का आभास मिलता है। अतएव भूमि के लगान को एक बड़ी और अग्रणीत जाति का सबसे प्रमुख सदस्य माना गया है। जिस उत्पादन-साधन की पूर्ति उसकी माँग से कम होगी वह लगान कमाएगा। इस तरह लगान दाम का एक स्वाभाविक—नारमल-अंग होगा।

पुराने अर्थशास्त्री भूमि की सीमान्त उत्पादकता द्वारा उसके लगान की मात्रा को समझते थे और कहते थे कि सीमान्त भूमि पर कोई लगान नहीं मिलता, क्योंकि उससे जो उपज होती है उसका मूल्य उसको तैयार करने में लगे व्यय के बराबर होता है, इसलिए बचत नहीं होती, लेकिन जो सीमान्त भूमि से अधिक (इन्ट्रामार्जिनल) उत्पादक भूमि है उससे एक बचत होती है, क्योंकि उसमें उतना ही खर्च करने से जितना कि सीमान्त भूमि में किया जाता है, अधिक उपज और उससे अधिक मूल्य मिलता है। यही बचत उसका लगान है। जिस चीज को इन भूमियों में उपजाया जा रहा है उसका दाम सीमान्त भूमि के सीमान्त व्यय (और यह अन्य भूमियों के सीमान्त व्यय से अधिक होता है) द्वारा निर्धारित होता है क्योंकि ऐसा नहीं होने पर यह भूमि कभी भी उसकी पूर्ति

नहीं कर सकती और तब समाज की उस चीज के लिए जितनी मांग है उतनी पूरी नहीं हो सकती। उन लोगों की यह व्याख्या दो नियमों पर खड़ी है—(१) भूमि विशिष्ट होती है और एक तरह की भूमि में एक ही तरह की चीज तैयार होती है और (२) भूमि में उस चीज का उत्पादन क्रमागत उत्पत्ति हास नियम द्वारा परिचालित होता है। इसीलिये वे कहते थे कि लगान किसी चीज के दाम (या व्यय) का एक हिस्सा नहीं होता अर्थात् हम नहीं कह सकते कि किसी चीज के दाम के बढ़ने (घटने) का एक कारण उसकी भूमि के लगान का भी बढ़ना (घटना) है। वे कहते थे कि दाम के घटने (बढ़ने) से उस चीज के उपजानेवाली भूमि का लगान घट (बढ़) सकता है। वे लगान पर केवल उत्पादकता की भिन्नता की ही दृष्टि से विचार नहीं करते थे बल्कि वे भूमि-भूमि को स्थिति का भी खयाल करके बताते थे कि दो समान रूप से उत्पादक भूमियों में जो भूमि बाजार के निकटतर होती है वह दूरतर भूमि की तुलना में लगान देती है, क्योंकि दूरतर भूमि को चीज के बाजार तक पहुँचाने में यातायात-खर्च पड़ता है और यातायात-खर्च दाम (या व्यय) का एक भाग होता है। एक शब्द में हम कह सकते हैं कि लगान दाम का निर्धारक न होकर स्वयं दाम से निर्धारित होता है। यही लगान और दाम का लगाव है।

लेकिन आधुनिक अर्थशास्त्र में हम भूमि के लगान को भी संभावित व्यय—ओपेरेचुनिटी कॉस्ट—के सहारे समझते हैं और हम यह मानते हैं कि भूमि के विभिन्न उपयोग (एक से अधिक चीजों के उपजाने में) हो सकते हैं। अपनी सेवाओं या उपयोगों के बीच भूमि की पूर्ति लोचपूर्ण होती है। इस हालत में जब भूमि के दो 'अ' 'ब' डकड़े क्रमशः धान और गेहूँ उपजा रहे हैं और यदि 'अ' पर लगान बढ़ा दिया गया तो 'अ' धान के बदले गेहूँ उपजाने लगेगा, अगर धानका दाम लगान की बढ़ी रकम के बराबर नहीं बढ़ा, क्योंकि 'अ' के गेहूँ

उपजाने लगने पर धान की पूर्ति धान उपजानेवाली भूमि के कम होने से घट जा सकती है और उसका दाम बढ़ जा सकता है। इस तरह हम देखते हैं कि जब किसी तरह की भूमि के वैकल्पिक उपयोग हो सकते हैं तब उसका लगान दाम में सम्मिलित हो सकता है, लेकिन कितनी शीघ्रता से और किस अनुपात में होगा, यह उस भूमि की पूर्ति की लोच की मात्रा पर निर्भर करेगा। हर अभावपूर्ण चीज की पूर्ति के परिवर्तन का प्रभाव उसके दाम के ऊपर पड़ता है और भूमि के साथ यही बात लागू होती है।

चूँकि भूमि की पूर्ति स्थिर है और उसके अभाव की मात्रा की निरपेक्ष अर्थ में बढ़ना नहीं जा सकता, अतएव उसकी पूर्ति में कोई वास्तविक व्यय नहीं लगता। लेकिन उसमें लगान मिलता है। इसीलिये कुछ लोग लगान को “अनोपार्जित वृद्धि” कहते हैं। वे कहते हैं कि किसी चीज के उपजाने में जो भूमि लगी रहती है उसको उसमें उतना दाम (या लगान) मिलता है जितना कि उसको उस चीज का उत्पादन छोड़कर किसी वैकल्पिक चीज के उत्पादन में लगने पर मिल सकता है। दोनों एक अभयनिष्ठ सत्य को अपने-अपने ढंग से प्रस्तुत करते हैं यद्यपि दूसरा कथन अधिक युक्तियुक्त और व्यावहारिक है।

लगान प्रत्यक्ष सम्पत्ति (भूमि और प्रत्यक्ष पूँजी) का मूल्य है। पहले लगान से भूमि का लगान (मालगुजारी) समझा जाता था। जिस तरह विभिन्न मार्गों से दौड़नेवाली यात्री-गाड़ियों की सीमान्त उत्पादकता की असमानताओं को सुधारा जा सकता है, लेकिन उस तरह हम भूमि के विभिन्न वर्गों के बीच की सीमान्त उत्पादकता में जो असमानताएँ हैं उनको हम सुधार नहीं सकते। उनकी सीमान्त उत्पादकता में संतुलन होगा जरूर लेकिन उन वर्गों के दामों के (अर्थात् लगानों) लगभग स्थायी रूप से विभिन्न स्तरों पर रहते हुए, ऐसा होगा। भले ही प्रथम कोटि की भूमि का लगान द्वितीय कोटि

की भूमि में काफी अधिक हो जाय, फिर भी उसकी मात्रा में वृद्धि होने की कोई संभवीनयता नहीं होगी। यह खासकर उस समय अधिक पाया जायगा जब कि यह विशिष्ट गुण स्थिति (सिचूरेशन) के कारण है, न कि उर्वरता (फर्टिलिटी) के कारण। तब सामान्य-करण की ओर कोई प्रवृत्ति नहीं होगी।

यह सत्य है कि भूमि को एक उपयोग से हटाकर दूसरे उपभोग में लगा सकते हैं। एक ही भूमि बारी-बारी से अनाज, आलू, बम, और टाईपराइटर के बनाने में (जब जिससे अधिक लाभ हो) लगाई जा सकती है। लेकिन केवल एक खास ध्येय के लिए, सर्वदा के लिए भूमि अच्छे और बुरे अंशों के वर्गों में बँटी हुई रहती है, और वर्गों में कोई अभियोजन नहीं हो सकता।

भूमि का जो स्थायी अभाव-जन्य-मूल्य है, वह केवल भूमि तक ही सीमित-नहीं है। किसी चीज का जो अधिक 'मूल्य' (एक्स्ट्रा मैल्यू) उसके स्थायी अभावगत मूल्य के कारण है वह उसके द्वारा तैयार की हुई वस्तु के दाम के ऊपर निर्भर करता है और उसके दाम के अनुसार बढ़ता-घटता है। वह भी ठीक लगान की तरह है। 'अधिक मूल्य' को हम ऊपर "बतौर लगान" (कजाई रेन्ट) नाम दे आये हैं। जब कोई चीज तैयार हो जाती है, तब उसका उत्पादन-व्यय उसके मूल्य या पूर्ति को प्रभावित नहीं कर सकता (उसका उत्पादन-व्यय उसके उत्पादन को ही प्रभावित करके उसके दाम को प्रभावित करता है।) उस चीज का मूल्य माँग के लगाव में उसके अभाव द्वारा निर्धारित होता है। उत्पादन के साधनों (पूँजीगत अथवा उत्पादकों की वस्तुएँ) की हालत में किसी साधन की माँग उसकी उत्पादकता पर अवलम्बित रहती है। जमीन के किसी टुकड़े या किसी मशीन से जो आय मिलती है, वह क्रमशः उसकी उर्वरता या निपुणता, और उसके द्वारा तैयार की हुई वस्तु के "प्रति इकाई" मूल्य पर निर्भर करती है। उर्वरता या निपुणता का दूसरा नाम

प्रत्यक्ष (फिजिकल) उत्पादकता है। जब किसी उत्पादन-साधन की पूर्ति उस वस्तु के मूल्य में हुए परिवर्तन के अनुकूल शीघ्र अभियोजित नहीं की जा सकती (चाहे कारण कोई भी) तब ऐसी आय को लगान या बतौर लगान कहते हैं। “बतौर लगान” नाम का निर्माण विशुद्ध या स्थायी लगान और उसकी आय की भिन्नता बतलाने के लिए किया गया है।

चूँकि लगान और बतौर लगान उत्पादकता और अन्तिम वस्तु के दाम के ऊपर निर्भर करते हैं, इसलिए वे श्रम से प्राप्त आय अर्थात् मजदूरी से समानता रखते हैं। लेकिन मजदूरों को प्रभावित करनेवाले अन्य कारण, उपरोक्त दोनों को छोड़कर, विशुद्ध लगान को निर्धारित नहीं करते। भूमि के साथ कम मजदूरी वाले काम से हटकर अधिक मजदूरीवाले काम में लग जाने का (गतिशीलता का) कोई सवाल ही नहीं। चूँकि हम उस अवधि से, जिसमें किसी साधन की पूर्ति बढ़ सकती है, कम अवधि का विचार कर रहे हैं, इसलिए वस्तु दाम ही वह अकेली शक्ति होगी जो उस साधन के उपयोग के बदले में दिये जाने वाले मूल्य को प्रभावित करेगी। अधिक मजदूरी और मजदूरों की बढ़ी समूची संख्या के बीच का लगाव भुलाया जा सकता है, लेकिन अधिक मजदूरी और मिहनत की तीव्रता या गहराई (इनटेन्सिटी) के बीच का लगाव बहुत ही घनिष्ट है लेकिन लगान के साथ ऐसा कोई सम्बन्ध ही नहीं। लगान में वृद्धि होने से उस साधन की, जिसके लिए लगान दिया जा रहा है, पूर्ति में वृद्धि नहीं होती और न उसके लगान में कमी होने से उसकी पूर्ति ही कम होती है।

पुराने सिद्धान्त—“लगान दाम में सम्मिलित नहीं होता”—के पीछे यही सबसे बड़ा सत्य है। लेकिन “लगान दाम में सम्मिलित होता है” इस मानी में कि किसी ठौर या स्थिति (साइट) और

किसी उद्योगशाला (फैक्टरी) का लगान उत्पादक के लिए उसी तरह उत्पादन का व्यय (एक्सपेन्स) है जिस तरह दूसरे उत्पादन के व्यय होते हैं, और अगर तैयार की हुई वस्तु के विक्रय-दाम से सभी व्यय नहीं सधते, अगर लगान नहीं निकलता, जो वह उसका उत्पादन अधिक देर तक नहीं कर सकता। फिर भी, इसे मानने में हमें जरा भी हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिए कि पुराने अर्थशास्त्रियों ने अन्य व्ययों से लगान को जो पृथक् स्तर पर रखा है, वह जायज़ था। उत्पादक के ईंधन (फ्यूल) के व्यय में वृद्धि होने से कोयला की खान के मालिक को अधिक कोयला निकलवाने में प्रोत्साहन मिलता है। लेकिन उसकी उद्योगशाला की स्थिति का व्यय किसीके लिए किसी प्रेरणा का काम नहीं करता। उद्योगशाला का व्यय एक प्रभावोत्पादक प्रेरणा का काम तभी कर सकता है, जब हम एक ऐसी अवधि का विचार करें जिसमें एक उद्योगशाला बन सके। अतएव कोयला का दाम कोयला के अभाव की मात्रा को निश्चित करने में सहायक होता है, लेकिन गंगा के किनारे की स्थिति का दाम उस स्थिति के अभाव की मात्रा को निर्धारित करने में कोई प्रभाव नहीं डालता। लगान “अन्ततः” (अलटीमेटली) वर्तमान अभाव से, और “शीघ्रतः” (इमीडिएटली) उस साधन से तैयार वस्तु के दाम से, पैदा होता है। किसी क्षण उत्पादन के सभी साधनों की भौतिक आएँ विशुद्ध लगान कही जा सकती हैं। एक हजार वर्षों की दृष्टि से केवल कुछ ही आएँ (जैसे बन्दरगाहों की स्थितियों की आय) विशुद्ध लगान होगी। “अटकल पचे डेट सौ” या “अन्दाजीफिकेशन” की दृष्टि से जब हम “ऊटपटांग” (भेग) समय का विचार करते हैं, तब भूमि और भारी स्थिर पूँजी की आय को ही लगान या बतौर लगान समझना आसान होगा, लेकिन पालतू चिड़ियाओं के एक मुँड की आय को लगान मानना आसान नहीं होगा। लगान उत्पादन-साधन के मौलिक या बुनियादी व्यय से किसी रूप में सम्बन्धित नहीं है।

यही लगान की वास्तविक प्रकृति है, और यह प्रकृति सभी साधनों के लिए अनुरूप रहती है। भूमि (प्रकृति) के साथ श्रम (पुरुष) के लाभार्जन-भावना से प्रेरित अव्यवसाय को विस्मृत नहीं किया जा सकता जिसने 'कुमारी' (भरजिन !) की अपार उत्पादकता से फायदा उठाया है।

मजदूरी

“मजदूरी” श्रम का पारिश्रमिक है। वर्तमान आर्थिक प्रणाली में (जिसके मुख्य अंग ये हैं — उत्पादन के साधनों में वैयक्तिक जायदाद का होना, श्रम-विभाजन, सहयोग-प्रधान उत्पादन, उद्योग-प्रणेता, बाजार या मूल्य-प्रणाली) श्रम-वर्ग को श्रम-बाजार में अपनी सेवाओं को बेचना पड़ता है। उनको खरीदनेवाले उन्हें खरीदते हैं और वहिर्गत (एक्सप्लिसिट) मजदूरी देते हैं। स्वतंत्र कारीगर जो अपने श्रम से कोई चीज तैयार करता है, जो किसी दूसरे के मातहत नहीं खटता, उसके द्वारा तैयार चीज में भी “अन्तर्हित” (इम्प्लिसिट) मजदूरी रहती है। लेकिन इस तरह की मजदूरी को श्रम-बाजार में ही हम नाप सकते हैं। अतएव वहिर्गत मजदूरी का ही हम अर्थशास्त्र में अध्ययन करेंगे, क्योंकि यह मुद्रा या दाम के रूप में व्यक्त होती है। मजदूरी के दो भेद होते हैं—(१) नामभर की या मौद्रिक मजदूरी—वह मजदूरी है जो मुद्रा के रूप मिलती है, चाहे रोजाना मिले या हफ्तावारी, माहवारी मिले या सालाना। इसको ‘वहिर्गत’ (एक्सप्लिसिट) मजदूरी भी कहते हैं। (२) वास्तविक मजदूरी—वह मजदूरी है जिसे हम जीवन में काम आनेवाली चीजों और सेवाओं के रूप में व्यक्त करते हैं। किसी मजदूर को जो मौद्रिक मजदूरी मिलती है उसको वह सीधे उपभोग नहीं कर सकता, उस वह चीजों और वस्तुओं को मोल लेकर उनका उपभोग करता है। वास्तविक मजदूरी के धन-पक्ष में मौद्रिक मजदूरी के अतिरिक्त कई दूसरी चीजें (जैसे, उसके काम से संयुक्त लाभ जिनको उठाने में उसे कोई विशेष व्यय नहीं करना पड़ता) और उसके ऋण-पक्ष में काम

करने में जो शारीरिक और मानसिक कष्टानुभूति होती है उसके अलावा कितने अन्य अलाभ आते हैं। वास्तविक मजदूरी का एक दूसरा नाम है “खालिस लाभ”। हम इसी अंश में उसको परिचालित करनेवाली शक्तियों का जिक्र करेंगे। इसके पूर्व हमें सोचना चाहिए कि भिन्न-भिन्न कार्यों में मिलनेवाली मजदूरियों में विभिन्नताएँ क्योंकर उत्पन्न होती हैं।

अगर हम फिलॉसफी छुटें तो हम कहेंगे कि जो जितना ही अधिक आनन्ददायक काम होता है उसमें उतना ही कम और जो जितना ही अधिक कष्टदायक काम होता है उसमें उतना ही अधिक वेतन मिलता है, क्योंकि पहले काम को करने वाले को एक मनोवैज्ञानिक—साइकिक—आय भी हो जाती है जो दूसरे में नहीं होती। मजदूरियों में विभिन्नताओं के कारणों को तीन वर्गों में उपस्थित कर इस तरह हम समझ सकते हैं—(१) बाजारगत शक्तियाँ—किसी चीज की माँग में उत्थान-पतन होने से (हम पीछे “माँग” अंश में देख चुके हैं कि उसमें किन-किन कारणों से उत्थान-पतन होते हैं) उस चीज की पूर्ति कम हो जाती है और उसके उद्योग में लगे मजदूरों की मजदूरी कम हो जाती है। जिस चीज की माँग अधिक (कम) होती है उसके उत्पादन करने वाले मजदूरों की मजदूरी भी अधिक (कम) होती है। इस तरह माँगगत शक्तियाँ मजदूरियों की भिन्नताओं को समझा सकती हैं। (२) कम की प्रकृति के अनुसार—इसमें १३ तथ्य आते हैं जो यों हैं:—चातुरी में भिन्नता होना (जिस तरह अधिक उत्पादक जमीन कम उत्पादक जमीन से अधिक ‘लगान’ देती है, उसी तरह जो अधिक चतुर मजदूर है वह कम चतुर मजदूर से अधिक मजदूरी कमाता है। मजदूरी में लगान का भी आभास है। अच्छा डाक्टर या इंजीनियर या अभिनेता चतुर आदमी ही बनता है, और १०-१५ वर्षों के अभ्यास के बाद ही हम उसके बारे में कहते हैं कि वह सफल या असफल है, मगर एक अचतुर आदमी जो नाली साफ करने का काम

करता है, वह ६ माह काम करने के बाद बता सकता है कि वह उसके लायक है या नहीं ! किसी ने कहा भी है कि बाबू के वेतन के लिए जमीन की ओर और साहब के वेतन के लिये आसमान की ओर देखना चाहिए !), कार्य की आकर्षणशीलता या अनाकर्षणशीलता, “बिना प्रतियोगिता के दल” का होना [जिसका मतलब यह है कि खास श्रम-वर्ग में गतिशीलता नहीं रहने से खराब काम में कम वेतन) (जैसे, भंगियों का काम) मिलता है । देश-देश के बीच, एक ही देश के स्थान-स्थान में भाषा, रीति-नीति, आदत, आदि के चलते श्रम का स्वच्छन्द प्रवाह नहीं होता । कभी-कभी मजदूर-संघ भी गतिशीलता को कम कर देते हैं । उनके टिकट के बिना कोई मजदूर कोई खास काम नहीं पा सकता । सरकार भी श्रम की गतिशीलता को नियंत्रित करती है, जैसा हम देख चुके हैं ।], किसी काम को सीखने में आसानी, मितव्ययिता और सुगमता, रोजी की नियमितता या अनियमितता, [किसी मजदूर को एक सौ रुपए के दरमाह पर बहाल किया जा सकता है । यह उसकी मजदूरी-दर हुआ, लेकिन उससे १५ दिनों तक काम लिया जा सकता है । इस तरह वह केवल पचास रुपए पा सकता है । यही उसकी कमाई—अनिङ्ग—हुई], कितनी ईमानदारी की जरूरत है, तरक्की और भविष्य का सवाल, अच्छा काम और अच्छा वेतन, बाहरी आमदनी और भत्ता की गुंजाइश, श्रम की गतिशीलता की मात्रा, उद्योग के स्वामी के लाभ की मात्रा, श्रम की निपुणता और उत्पादकता और प्रयास, श्रम विशिष्ट है या नहीं और कार्यो-वधि—सिनीयरीटी का सवाल (जो अपने उग्र रूप में निहित स्वार्थों—मेटेड इन्टरेस्ट्स—का जनक है, अधिक कुशल नव-कर्त्ताओं के उत्साह पर ठंडा पानी डालने वाला है, जिसका अन्तिम फल है पहले से आये लोगों की क्रूरता !) (३) मिश्रित कारण—ये १० हैं और ऐसे रखे जा सकते हैं—मजदूर-संघ का होना या न होना, उसके संगठन की विशेषता, अज्ञानता के कारण भी समान योग्य दो आद-

मियों में से एक कम वेतन वाला काम करने लगता है, किस तरह का व्यवसाय है—प्रतियोगितात्मक, एकाधिकारात्मक या अपूर्ण ?, सरकार तो कहीं अनिवार्यता और प्रेरणागत उपायों को कार्यान्वित नहीं कर रही है, सामाजिक वातावरण—जातीयता, साम्प्रदायिकता, आदि, शिक्षा-दीक्षा के सुयोगों में समानता का होना-न-होना, बेकारी की आशंका की मात्रा, आदत से लाचार होना—घर-द्वार की ममता, उम्मानुसार, जैसा कि बच्चे-जवान के बीच मजदूरी की भिन्नता अवश्यभावी है, और म्रौन—पुरुष या स्त्री (कहा जाता है कि स्त्री जाति पुरुष-जाति की तुलना में कम मजदूरी पाती है । इसकी व्याख्या हम आगे दे रहे हैं) । यदि इस दुनिया में लोगों को काम-धाम, पदादि योग्यता के अनुसार दिए जाते तो आपस में आज जितना हार्दिक जलन नहीं रहता । आज की स्वार्थी दुनिया में खुशामद करने वाले को अधिक वेतन और जिसको परेशान करना है, जिसकी टाँग पीछे खींचना है, जिससे बदला लेना है, (कभी-कभी बोट नहीं देने के कारण !) उसको प्रगति से रोका जाता है और कम वेतन दिया जाता है ।

वास्तविक मजदूरी—‘खालिस लाभ’ (नेट एडभान्टेजेज) किन-किन बातों के ऊपर निर्भर करती हैं ? वह अप्रलिखित १३ बातों के ऊपर निर्भर करती है—मुद्रा की क्रय-शक्ति, चीजों और सेवाओं के रूप में मिला हुआ भत्ता, कार्यावधि (इसका मतलब है कि किस उम्र में कोई आदमी किस काम में सर्वश्रेष्ठ घोषित हो सकता है, पींगपौंग का खिलाड़ी १८ वर्ष की उम्र में, गणितज्ञ और, कलाकार जीवन के आदि-काल में, इतिहासज्ञ काफी परिपक्व अवस्था में, अर्थशास्त्र के व्याख्याता ६५ वर्ष की उम्र में प्रोफेसर बनते हैं, राजनीतिज्ञ ५० वर्ष की उम्र में तो हठी युवक कहे जाते हैं, ६५ वर्ष के होने पर बड़े पद के पात्र बनते और ८० वर्ष की उम्र में भी बेधड़क काम करते हैं !), अवकाश और छुट्टी की मात्रा, काम करने के वातावरण की अवस्थाएँ, वेतन के अलावा

और आमदनियों का, चाहे खाने-पीने के सामान के रूप में ही वह क्यों नहो, होना और हो सकना ; स्थायी रोजी है, या अस्थायी ; काम का भविष्य—अन्धेर गली—जैसे पत्रवाहक (लड़के का काम—कामों के लिए अधिक, आगे चलकर ‘जीवन के चमकने वाले पारितोषिकों’ को दिलाने वाले—जैसे पार्लियामेन्टरी सेक्रेटरी आगे चलकर मंत्री बनता है—काम के लिए लोग कम वेतन लेना मंजूर कर लेते हैं) समय और खर्च, ऊपरी काम करने पर अलग से पारिश्रमिक दिया जाना, काम को करने में पोशाक, सवारी, आदि पर कितना खर्च करना पड़ता है, क्या मजदूरों की तैयार की हुई चीजों को अपने लिए जबरदस्ती खरीदना भी पड़ता या नहीं, क्या ठीकेदारों के जरिए उनको काम मिलता है, क्या इसके लिए घूस, रिश्वत, आदि देना पड़ता और काम की आकर्षणशीलता या अनाकर्षकशीलता, समाज में उस काम का आदर या अनादर, आदि (पीगू ने इसका बड़ा ही मनोहर वर्णन अपनी पुस्तक ‘आय’ के चतुर्थ अध्याय में किया है । उनके अनुसार “खालिस लाभ” केवल कार्यानुसार मजदूरी (पीस बेजेज) देने से या कार्य की तीव्रता या निपुणता के अनुसार मजदूरी देने पर निर्भर नहीं करते । वे उपरोक्त तथ्यों पर भी अवलम्बित हैं ।)

क्या खालिस लाभ (उनका अर्थ होता है किसी काम करने क अन्तर्गत एवं वहिर्गत लाभालाभ का अन्तर । वे सबसे अधिक मजदूरी की मुद्रा के रूप में ही व्यक्त होते हैं ।) समान होने की प्रवृत्ति रखते हैं-? इसका उत्तर है ‘हाँ’ । अगर प्रत्येक पेशा के जो खालिस लाभ हैं वे समान नहीं तो जिस पेशा में वे कम हैं, उसमें से कुछ मजदूर हटकर दूसरे पेशा में जिसमें वे अधिक हैं, लग जायेंगे । इसका परिणाम यह होगा कि पहले पेशा में श्रम की पूर्ति के कम होने से वे बढ़ने और दूसरे में श्रम की पूर्ति के अधिक होने से वे घटने लगेंगे । उनका एक-दूसरे में घटना-बढ़ना और श्रमिकों का एक-दूसरे को छोड़ना—करना, उस समय तक जारी रहेगा जब तक दोनों में खालिस

लाभ समान न हो जायँ और श्रम-पूर्ति दोनों में संतुलित अवस्था न प्राप्त ले। लेकिन इस तथ्य की सफलता के लिए पूर्ण प्रतियोगिता और पेशा-चयन में पर्याप्त स्वतंत्रता (पूर्ण रोजी और श्रम की पूर्ण गति-शीलता) का होना जरूरी है। उसके अभाव में, एकाधिकार और अपूर्ण प्रतियोगिता रहने पर ऐसा नहीं हो सकता और चूँकि वास्तविक जीवन में पूर्ण प्रतियोगिता नहीं, इसलिए वे कतई समान नहीं होते।

इतना पढ़ने के बाद पाठकों को यह बतलाने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिये कि मजदूरी कैसे निर्धारित होती है। हम 'सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त' को पीछे समझा आये हैं। यह सिद्धान्त इसमें काम आ सकता है और यहाँ उसकी व्याख्या करनी होगी। (हम यहाँ आवृत्ति के भय से उसे नहीं लिख रहे हैं) मजदूरी पर किसी व्यवसाय में लगी पूँजी की मात्रा का प्रभाव पड़ता है, क्योंकि पूँजी श्रम की सीमान्त उत्पादकता को प्रभावित करती है। “बिना पूँजी के श्रम अकुशल और बिना श्रम के पूँजी मृतप्राय होती है” (देखिए “पूँजी” परिच्छेद को) उत्पादन में वृद्धि इनमें से किसी एक कारण से हो सकती है—(१) मौलिक उत्पादन-साधनों के अधिक उपयोग से, (२) अधिक श्रम-विभाजन से और (३) अधिक चक्कर उत्पादन-प्रणाली (अधिक पूँजी) को अपनाने से। लेकिन यह सिद्धान्त मजदूरी की व्याख्या माँग-पक्ष से करता है। अगर उसके साथ प्रति-पक्ष में काम करने वाली शक्तियों को भी जोड़ दें तो हम इनके संयोग से ‘मजदूरी’ को समझा सकते हैं। नीचे हम बता रहे हैं कि किस तरह श्रम की उत्पादकता, मजदूरी की ऊपरी सीमा और उसका निर्वाह-स्तर उसकी निचली सीमा निश्चित करता है जिसके फलस्वरूप मजदूरी इन दोनों सीमाओं के बीच में किसी बिन्दु पर तय होती है और वह श्रम और उसके क्रेता की पारस्परिक मोल-मोलाई शक्ति की लोच

द्वारा परिचालित होती है। भ्रम की पूर्ति किसी दाम (अर्थात् मजदूरी) पर उपलब्ध होनेवाली दैहिक शक्ति की मात्रा को कहते हैं। पूर्ति-पक्ष में हमें इन बातों को सोचना है—(१) क्या मजदूर के दिमाग में भी अपना कोई मूल्य है? क्या वह अमुक मूल्य से कम में काम करने के लिए उत्कट नहीं होगा? हम पीछे बतला आये हैं कि किस तरह से किसी वस्तु के विक्रेता के दिमाग में एक सुरक्षित मूल्य—रिजर्व प्राइस—होता है जिसके नीचे दाम पर वह बेच नहीं सकता। अतएव हमें यहाँ यह सोचना है कि क्या मजदूर का भी कोई ऐसा ‘सुरक्षित मूल्य’ है जिससे कम पर वह काम करने को राजी नहीं होगा। उसके दिमाग में एक ‘मजदूरी’ का खयाल जरूर रहता है, लेकिन उसका काम करने के लिए तैयार न होना, इस बात पर निर्भर करेगा कि उसके भ्रम की पूर्ति की लोच कितनी है अर्थात् उसकी मोल-मोलाई—बारगेनिज़—की शक्ति कितनी है। अगर वह बहुत लोचपूर्ण है तो वह कम मजदूरी मिलने पर काम न करेगा। अगर उसमें लोच का सर्वथा अभाव है तो उसके सामने लाचारी है। (२) मजदूर की पूर्ति पारिवारिक वातावरण और रहन-सहन के स्तर द्वारा भी प्रभावित हुआ करती है। भ्रम केवल भौतिक पदार्थों की ही कामना नहीं करता बल्कि वह ‘विश्राम’ भी खोजता है। पुराने अर्थशास्त्री कहते थे कि मजदूरी की दर और मजदूरों के जीवन-निर्वाह के स्तर में घना संबंध है। मजदूरी बढ़ने पर वे अधिक परिवार बढ़ाते हैं (मानों उसके ही कारण वे तुरत शादी कर लेते हों!) जिससे आपस की प्रतियोगिता के बढ़ने से मजदूरी कम होकर सामान्य स्तर पर पहुँच जाती है। मजदूरी के घटने पर (मानों उसी के ही कारण उनकी शादी का प्रोग्राम फेल कर जाता हो!) उनकी जनसंख्या घट जाने से, उनकी कम पूर्ति-होने से, मजदूरी बढ़ जाती है। वर्तमान अर्थशास्त्री कहते हैं कि न्यूनतम जीवन-निर्वाह स्तर का तो खयाल करना है, लेकिन उसके साथ भ्रम की आदतों और रीतियों को भी विचार करना होगा।

(३) क्या वह किसी मजदूर-संघ का सदस्य है और अगर वह उसका सदस्य है तो उस संघ का संगठन कैसा है, उसको मजदूरी की दर को प्रभावित करने वाली शक्ति कितनी है ? (४) क्या सरकारी नियम—न्यूनतम मजदूरी बेकारी के काल में सहायता, सामाजिक सुरक्षा की योजनाएँ, आदि—उसके पत्र में हैं और किस हालत में ? (५) मजदूर की गतिशीलता—मोविल्टी—कैसी है ? क्या वह आसानी से स्थान और कार्य बदल सकता है ? क्या उसके पास यातायात खर्च (पाथेय) है ? आदि (यहाँ उन तथ्यों का भी विवेचन होना चाहिये जिन्हें हम “श्रम-पूर्ति के वितरण को प्रभावित करनेवाली मांगगत और पूर्तिगत शक्तियाँ” शीर्षक अंश में लिख आये हैं) ‘मजदूरी’ के निर्धारण के ऊपर विचार करते समय हमें वस्तु के मूल्यकरण के सिद्धान्त और उत्पादन-साधनों के मूल्यकरण के सिद्धान्त में जो विभेद है उसपर भी दृष्टिपात करना होगा । (देखिये पोछे)

सामान्यता स्त्रियों को पुरुषों से कम मजदूरी इसलिये मिलती है कि उनकी शारीरिक शक्ति और सहनशीलता कम होती है (कुश्ती और गदा भाजने में कोई स्त्री चैम्पीयन नहीं हो सकती), उनकी आवश्यकताएँ कम होती हैं, उनका हाक-दाव भी कम होता है, उनके लिये कामों के विक्रयों (ऑल्टरनेटिव्स) की संख्या कम है जिससे उनमें अधिक प्रतियोगिता रहती है, वे पुरुषों से कम नियमितता के साथ (क्योंकि उन्हें दुलहिन और जननी बनकर घर में कई सप्ताहों तक रहना पड़ता, रसोईया का काम भी अदा करना पड़ता है ।) काम कर सकती है, उनमें संगठन का (लेकिन अब तो वे रेकॉर्ड तोड़ती जा रही है !) अभाव रहता है, वे सम्पूरक कामों में अधिक लगती हैं (जिनमें प्रमुख कामों के लिए जो मजदूरी मिलती है उसके बराबर मजदूरी नहीं दी जा सकती) और उनका दिमाग भी कुछ दुर्बल होता है (इसलिये नहीं कि उनमें एकाग्रचित्तता कम रहती है और वे प्रतिदिन शायद माथा नहीं धोती ! लेकिन अपवाद अनेकानेक हैं) ।

स्त्रियों का वेतन किसी-किसी पेशा में पुरुषों के वेतन से अधिक भी हो सकता है। कुछ कार्यों में उनकी उत्पादकता (निपुणता कहना बेहतर होगा !) बड़ी अधिक होती है, जैसे नर्स (धात्री) का या परिचारिका (भारतीय राजा-महाराजा तो उन्हीं को परिचारिका जानबूझ कर बनाते थे ! शायद बंगला में उनके रहने से उनकी स्फूर्ति ज्यादा हो जाती होगी !) का काम और अब तो टाइपिस्ट का काम तो वे गजब करती हैं। 'उजली कालर' (हाइट कॉलर) अर्थात् किरान गिरी के काम में वे अधिक लग रही हैं। इसपर व्यापारिक उत्थान-पतन का प्रभाव कम पड़ता है जिससे उनकी मजदूरी अधिक स्थिर (स्टीकी) होती है। और अगर कोई रोमैण्टिक शासक हुआ तो वह कानून बनाकर उनकी मजदूरी को पुरुषों की मजदूरी से अधिक कर सकता है ! तब तो क्या पूछना ! उनको पौवारह होगा !

सूद

सूद वह दाम है जो "पूँजी" की सेवा के बदले उपभोक्ता द्वारा दिया जाता है। पूँजी के लिये बाजार में जो दाम चालू रहता है उसको सूद की दर कहते हैं। विशुद्ध या खालिस सूद ऐसे ही सूद को कहते हैं। इसमें अन्य तत्वों के लिए दी गई सुद नहीं आती। प्रत्येक क्षेत्र में सूद की दरों में विशुद्ध सूद में समानता रहती है। यह बेखालिस सूद से कम होता है। बेखालिस सूद में विशुद्ध सूद की रकम के अतिरिक्त आपत्ति-निवारण, हिसाब-किताब रखने, कर्मचारी रखने, आदि के भी व्यय सम्मिलित रहते हैं।

सूद कैसे निर्धारित होता है ! सीधा उत्तर है—पूँजी की मांग और पूर्ति शक्तियों के घात-प्रतिघात से। पूँजी की मांग क्यों होती है ? उसकी मांग इसलिये होती है कि उसमें उत्पादकता या निपुणता होती है। कोई आदमी सूद उतना ही देगा जितना पूँजी की उत्पा-

कता से सध जाता है। इस तरह से पूँजी माँगने वाले प्रत्येक व्यक्ति का (जिसे हम संगठनकर्त्ता या प्रणेता कहते हैं) अपना एक सुरक्षित दाम—रिजर्व प्राइस—होता है जिससे अधिक सूद पर वे पूँजी नहीं ले सकते। वह पूँजी को लेते समय सोचता है कि वह अधिक पूँजी उधार लेकर उत्पादन में लगावे जिससे वह अधिक चक्करदार और तदर्थ अधिक लाभदायी हो या वह उसके बदले अधिक श्रम ही लगावे या अधिक भूमि लगावे। मान लीजिए वह पूँजी को चुनता है। वह जैसे-जैसे अधिकाधिक पूँजी लगाता है वैसे-वैसे वह उसकी अधिकाधिक उत्पादकता से लाभ उठाता जाता है, परन्तु एक बिन्दु के बाद पूँजी की सीमान्त उत्पादकता और उसके लिए दिया सूद दोनों समान हो जाते हैं और उसके बाद “क्रमगत उत्पत्ति हास” नियमानुसार अधिक पूँजी लगाना हानिकारक होगा और तब वह उसके बदले में श्रम या भूमि को अधिक लगाएगा। इस तरह वह प्रतिस्थापन नियम का पालन करेगा। अतः सीमान्त-उत्पादकता एक सबल पक्ष है। पूँजी की पूर्ति क्यों होती है ? उसकी पूर्ति इसलिए होती है कि जिनके पास वह रहती है वे उसको उधार देकर उससे पैसा कमाना चाहते हैं। पूँजी बचत करनेवाला सोचता है कि वह अपनी आय को भावी एवं वर्तमान उपभोग में किस-किस मात्रा में बाँटे। उसका यह कार्य “काल-तरजीह” (टाइम प्रेफरेंश) द्वारा संचालित होता है। यह आम नियम है कि यदि अधिक पूँजी की पूर्ति (अर्थात् बचत और तदर्थ विनियोग) चाहिये तो सूद की दर अधिक रहे और कम चाहिये तो वह कम रहे। लेकिन जब कोई आदमी कोई खास रकम जमा करना चाहता है तब तो सूद की दर का पूँजी-पूर्ति पर प्रतिकूल दिशा में (निगेटिव) प्रभाव पड़ेगा। लोग पूँजी को अपने पास तरलावस्था में तीन प्रयोजनों—विनिमय (विनिमय-माध्यम के लिये) आपत्ति-निवारण, (अचानक केस की जरूरत पूरा करने के लिये) और पूँजी-विनियोग (मूल्य के

स्टोर या धारक के लिए) के फलस्वरूप रखना चाहते हैं और सूद की दर यदि इतनी है कि वह इन प्रयोजनों को माप सके, तो वे अपनी पूँजी को व्यवसाय में लगा देंगे, अन्यथा नहीं। अतएव सूद उस बिन्दु पर निश्चित होगा जिसपर पूँजी की निपुणता और पूँजी-तरलता की तरजीह दोनों समान होंगी। अतएव सामान्य तौरसे हम कह सकते हैं कि “काल-तरजीह” पूँजी के पूर्तिकर्त्ताओं के दामों को और सीमांत उत्पादकता पूँजी मांगनेवालों दामों को बतलाती है। के कुछ लोग सूद में भी लगान का अभास पाते हैं और वे कहते हैं कि जिस तरह सीमांतोपरि जमीन को ही लगान मिलता है, उसी तरह सीमान्तोपरि धन-संग्रहकर्त्ता को ही सूद मिलता है। सीमान्त धन-संग्रहकर्त्ता तो खुद अपनी कमाई को खा-पीकर लुट्टी कर देता है। पूँजी की पूर्ति के ऊपर विचार करते समय हमें उन तथ्यों का भी उल्लेख करना होगा जो उसके संग्रह या विकास में सहायक होते हैं। (देखिए “पूँजी का विकास” परिच्छेद)

हम “विकारी की समस्या” के प्रसङ्ग में देख चुके हैं कि किस तरह सूद की दर का प्रभाव रोजी की मात्रा पर पड़ता है। अगर सूद की दर को कम (अधिक) कर दिया जाय तो पूँजी की सीमान्त निपुणता बढ़ने (घटने) से उद्योग-प्रवर्तकों के मुनाफा की रकम बढ़ (घट) जायगी और वे पूँजी-निर्माण (अर्थात् टिकाऊ-प्रयोग वस्तुएं, जो उत्पादन में आती हैं और उपभोग की वस्तुओं को बनाती हैं) को बढ़ा (घटा) देंगे। जब व्यापारिक धूम (मन्दी) में रोजी की मात्रा स्वतः बढ़ (घट) रही है तब सूद की दर को बढ़ाकर (घटाकर) उसको काबू में लाया जा सकता है और रोजी और आय के स्तर को सुस्थिर बनाया जा सकता है।

सूद की दरों में विभिन्नताएं क्यों पाई जाती हैं ? उत्तर है, निम्न-लिखित कारणों से:—हर ‘पूँजी’ (यहाँ पूँजी का हम विशद अर्थ

में व्यवहार कर रहे हैं) लेनेवाले व्यक्ति या व्यवसाय के साथ हर पूँजी देनेवाले व्यक्ति या संस्था को जो आपतियाँ (सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक) रहती हैं वे विषम होती हैं, पूँजी सूद पर लगाने में जो मिहनत और असुविधा होती है, वह भी असमान होती है, पूँजी लेते समय सभी लोग समान गुण को जमानतें नहीं देते, कर्जखोरों के प्रति समाज का रुख कैसा है, पूँजी की गतिशीलता पर, सरकारों की कर-नीति पर, देश में पूँजी का भंडार कितना है; कम टिकाऊ पूँजी पर, अधिक और टिकाऊ पूँजी पर, कम सूद लिया जाता है; पारिवारिक स्नेह (अगर लोग अधिक विरासत छोड़कर मरना चाहते हैं तो सूद आगे चलकर कम होगा), “जीने की सामान्य आशा” पर [जब किसी देश के लोग अधिक (कम) वर्षों तक जीने की उम्मीद करते हैं तब वे कम (अधिक) सूद से ही अपनी पूँजी को वापस करने की आशा रखते हैं] ।

अन्त में एक और सवाल का उत्तर देना अच्छा होगा । क्या सूद की दर शून्य हो सकती है ? दूसरे शब्दों में क्या कोई पूँजीवाला अपनी पूँजी को बिना कुछ लिए किसी व्यक्ति या संस्था को उधार दे सकता है ? कभी-कभी हम देखते हैं कि किसी किसान के बागान में जब बेशुमार आम या लीची फलती हैं (या कोई तरकारी ही सही) और जब वह खुद उसका उपभोग कर अधा ही नहीं ऊब जाता है और जब वह उनको बेचते-बेचते तंग आ जाता है तब वह आजीज में आकर अपने अड़ोस-पड़ोस वालों को बुलाकर उनसे उसे तोड़-ताड़कर खा जाने को कहता है । अगर अड़ोसी-पड़ोसियों के साथ भी वैसी ही बात हो तब क्या होगा ? यही उपमा हमें बतलाएगी कि सूद की दर शून्य हो सकती है या नहीं । अगर किसी व्यक्ति, संस्था या देश के पास इतनी पूँजी हो जाती है कि वह किसी दूसरे व्यक्ति, संस्था या देश को बिना सूद के ही देने पर कटिबद्ध हो जाय तो सूद की दर अवश्य

शून्य होगी और अगर सभी व्यक्ति, संस्था, और देश समान रूप से या लगभग समान रूप से पूँजीवान बन जायँ तो भी वही बात हो सकती है। सूद को लोग हराम का पैसा समझेंगे। अन्यथा नहीं !

परिशिष्ट

सूद के विषय में हम अभी प्रमुख तथ्यों पर विचार कर आए हैं। सूद, जैसा कि हमने देखा है, पूँजी से उत्पन्न आय है। यह पूँजी की आय और उसके वर्तमान मूल्य के मध्य सम्बन्ध स्थापित करता है। यदि किसी उद्योगशाला (फैक्टरी) से प्रति वर्ष १० हजार रुपए की आय हो रही हो और यदि बाजार में सूद की दर ५ रुपया प्रतिशत प्रति वर्ष हो तो उस उद्योगशाला का पूँजीकृत मूल्य होगा— $१०,००० \times \frac{१००}{५} = २०,०००$ रुपए। यदि सूद की दर घटकर ४ रुपया प्रतिशत प्रति वर्ष हो जाय तो उसका पूँजीकृत मूल्य बढ़ जायगा। वह नियमानुसार $१०,००० \times \frac{१००}{४} = २५०,०००$ रुपए हो जायगा। सूद 'भ्रष्टागत पूँजी' (लोन कैपिटल) के उपयोग के बदले में किसी अवधि के लिए दिया हुआ दाम है। चूँकि सूद भी दाम है, इसलिए उसका काम भी माँग और पूर्ति को समान करना है। जो जितनी ही अधिक उत्पादक पूँजी होगी वह उतना ही अधिक सूद देगी और सूद की यह 'भिनता' (सरप्लस) की तरह होगी। यह बचत लगान की तरह या बतौर लगान (छाजाई रेन्ट) की तरह है। अधिक उपजाऊ जमीन की तरह अधिक उत्पादक पूँजी अधिक लगान देती है (या अधिक बतौर लगान देती है जब तक कि कोई दूसरी पूँजी भी उसके बराबर ही उत्पादक नहीं हो जाती)। सूद को इसलिए "संग्रहेता की बचत" कहा गया है। बाजार आय और पूँजी को अन्तर्सम्बन्धित करता है। वह सूद के माध्यम से ऐसा करता है। उदाहरणार्थ, कोई चिर-युवा मुनहल्ला राजहंस (जो कभी बूढ़ा होगा ही नहीं) जो प्रति वर्ष १२०० रुपए आय

में देता है वह किसी समय किसी निश्चित पूँजीगत रकम (कहिए, ३०,००० रुपए) पर खरीद लिया जा सकता है ! यह ऐसी स्थायी आय का पूँजीकृत मूल्य होगा । अतएव सूद की दर वह जादूभरी वस्तु है जो आय तथा पूँजी के बीच लगाव स्थापित करती है ।

पूँजी अभावपूर्ण तो है लेकिन उसके बहुविध या वैकल्पिक उपयोग हो सकते हैं । पूँजी बिना मोल नहीं मिल सकती । एक युग था जब ऋण में पूँजी पर सूद लेना नापाक (यूजरी) समझा जाता था (पढ़िए राहुल जी की आख्यायिका “अदोना”) लेकिन आज यह विचारधारा नहीं । “ऋणगत पूँजी” अभावपूर्ण होती है और उसका अभावगत मूल्य होता है । पूँजी श्रम की संगिनी है और वह श्रम की रही-सही अनिपुणता को सम्पूरित करती है । वह इंजिन के “फलाई हिल” की नाई है और उपभोग तथा उत्पादन दोनों मशीनों को एक साथ चालू रखती है । उसमें उत्पादकता है । इसीलिए उसकी माँग होती है ।

पूँजी की पूर्ति के पीछे पूँजी के संग्रहेताओं के प्रयोजन सक्रिय रहते हैं । माली की तरह पूँजी का मालिक उसे उधार देकर सूद रूपी फूल की प्रतीक्षा (वेटिङ्ग) करता है । वह एक तरह से भावी संतोष के लिए वर्तमान संतोष के दावा (क्लेम) को बदलता है । “प्रतीक्षा करने की मनोवृत्ति” ही पूँजीवादी उत्पादन को संभव बनाती है । अतएव प्रतीक्षा में त्याग है और त्याग ही पूर्ति-पक्ष के “व्यय” का बोधक है । साधारणतया लोग भविष्य की अपेक्षा वर्तमान को प्रधानता या तरजीह (प्रैफरेंश) इसलिए देते हैं कि उनकी दूर-दर्शिता-शक्ति (टेल्सिकोपिक फेक्टी) दुर्बल होती है और सूद उनकी इसी तरजीह का मापक है । यह ठीक है । लेकिन जो आदमी ऋण देता है, वह पूँजी लगाता है, वह ऐसा इसीलिए

करता है कि या तो वह खुद अपनी जिन्दगी में, या उसका उत्तराधिकारी, सूद के साथ मूलधन को वापस पा लेगा ।

सूद को काल-तरजीह के बदले तरलता-तरजीह (लिक्विडिटी प्रेफरेंस) से अधिक कुशलतापूर्वक समझा सकते हैं । लोगों की मुद्रागत जो माँग है वह सूद को समझाती है । मुद्रा सामान्य व्यय-शक्ति प्रदान करती है । आदमी के पास का तीन आना कई व्ययों का प्रतीक है—सवारी के भाड़े का, कौपी के दाम का, एक प्याला चाय या कॉफी का, अथवा कुछ टॉफियों का । जेब में उसे रखकर आदमी चुनने की स्वतन्त्रता से ओत-प्रोत रहता है । बैंक में चालू खाता खोलकर भी वह निरापदता का अनुभव कर सकता है । मुद्रा “मूल्य के अवधारक” का जो काम करती है वह काम तरलता-तरजीह का प्रश्न छोड़ता है । इस प्रश्न की व्याख्या यों हो सकती है । कोई आदमी चयन-स्वातन्त्र्य और संकटकालार्थ निरापदता को कितना महत्व देता है और वह जितना ही अधिक महत्व देगा उतना ही अधिक वह तरल कोष या तैयार मुद्रा (रेडी मनी) और उतना ही कम विशिष्ट वस्तुओं के भंडार को अपने पास रखना चाहेगा । कहावत भी है “नौ नकद न तेरह उधार” । तरलता-तरजीह का सूद-सिद्धान्त बतलाता है कि किस तरह अन्य चीजों के स्थिर रहने पर सम्पूर्ण तरल मुद्रा (नकद-मुद्रा) में कोई वृद्धि सूद की दरों को कम कर सकती है । अगर समाज में तरल पूँजी की अधिक (कम) मात्रा लोग अपने पास रखना चाहते हैं तब उनको ऐसा करने से रोकने के लिए सूद को अधिक (कम) करना होगा । यही पूर्ति का पक्ष है । ऊपर तरलता-तरजीह के जो तीन अंग—विनिमय संकट—निवारण और पूँजी—विनियोग प्रयोजन—बतलाए गये हैं उनमें से तीसरा अंग (पूँजी-विनियोग के निमित्त मुद्रा की माँग) सबसे अधिक संश्लिष्ट है और वह सूद पर सबसे अधिक अवलम्बित होता

है। सूद की दर जितनी ही अधिक होगी उतनी ही कम मुद्रा लोग अपने पास पूँजी-विनियोग के लिए रखना चाहेंगे। ऐसा इसलिए कि पूँजी-विनियोग में अनिश्चयता—अनसरटेन्टी—की मात्रा सर्वाधिक होती है।

मुनाफा

लगान, मजदूरी और सूद क्रमशः भूमि, श्रम और पूँजी के पारिश्रमिक या मूल्य हैं उसी तरह मुनाफा संगठनकर्त्ता का पारिश्रमिक है, लेकिन उसे कोई देता नहीं, वह स्वयं पैदा किया जाता है। कुछ लोग मुनाफा को संगठनकर्त्ता की योग्यता का लगान (रेन्ट ऑफ ऐन्विलिटी) कहते हैं। जिस तरह सीमान्तोपरि जमीन से ही लगान मिलता है उसी तरह सीमान्तोपरि संगठनकर्त्ता ही मुनाफा कमा पाता है। सभी संगठनकर्त्ता योग्यता या कुशलता में उसी तरह से समान वहीं होते जिस तरह जमीन के सभी टुकड़े अपनी उर्वरता या उत्पादकता में समान नहीं होते। अतएव बेखालिस मुनाफे का एक तत्व 'बचत' (सरप्लस) भी है। उसे "उत्पादक की बचत" (प्रोड्यूसर्स सरप्लस) कह सकते हैं। "उपभोक्ता की बचत" की नाईं यह भी एक आर्थिक तथ्य है।

मुनाफा के दो भेद होते हैं—खालिस मुनाफा और बेखालिस मुनाफा। खालिस मुनाफा (सामान्यतया इससे किसी वस्तु के मूल्य और व्यय का श्रृणात्मक अन्तर समझा जाता है) के निम्नलिखित तत्व हैं—श्रेष्ठतर ज्ञान (परिवर्तनशील व्यावसायिक दुनिया का) और मोल-मोलाई करने की शक्ति (जो दूरदर्शिता, सूक्ष्म-समझ और प्रेरणा गुणों की देन है) का पारिश्रमिक, उत्पादन-व्यय से विक्रय-मूल्य में का अन्तर, संगठन और समन्वय कर के उत्पादन करने से उत्पन्न लाभ, अनिश्चयता और आपत्ति-संवहन का पारिश्रमिक, और

आपत्ति-निवारण का पारिश्रमिक । संक्षेप में हम कह सकते हैं कि मुनाफा संगठन की (१) मजदूरी (निरीक्षण, संगठन, संचालन आदि की सेवाएँ—उसको अवस्था एक गैर-प्रतियोगितात्मक दल की जैसी है, क्योंकि जिसके पास पूँजी है या जो पूँजी पा सकता है, जिसको सामाजिक समादर प्राप्त है, वही संगठनकर्त्ता बन सकता है) और (२) लगान (क्योंकि एक संगठनकर्त्ता दूसरे संगठनकर्त्ता से अधिक या कम कुशल होता है और यह लगानरूपी वचत उत्पादन-व्यय की कमी-वेशी के रूप में अभिव्यक्त होती है । सीमांत संगठनकर्त्ता अर्थात् उत्पादनकर्त्ता के वस्तु-विक्रय से मिन्ना हुआ दाम और वस्तु-उत्पादन में लगा व्यय दोनों समान होते हैं । उत्पादन व्यय की भिन्नता एकाधिकारात्मक सुविधाओं के कारण भी हो सकती है और अधिक विस्तार पर उत्पादन करने के कारण भी ।) और अपने पास से लगाई पूँजी पर (३) सूद—इन तीनों की समष्टि है । ऐसा भी हो सकता है कि कोई ये काम न करे । तब उसको दूसरी वजहों से मुनाफा मिलेगा । खालिस मुनाफा में ये तत्व आते हैं—अपनी भूमि पर का संभावित लगान, अपनी पूँजी पर का उचित सूद, अवक्षयण व्यय, एकाधिकारात्मक स्थिति प्राप्त करने का लाभ, युद्धजन्य अनार्जित लाभ, संचालन और व्यवस्थापन का पारिश्रमिक, आपत्ति एवं अनिश्चयता-संवहन का व्यय (जिनको बीमा-कम्पनियों की सहायता से कम किया जाता है) और विशेष गुणों—जैसे मोल-मोलाई की क्षमता—का पारिश्रमिक । इन सभी तथ्यों के द्वारा हम बता सकते हैं कि क्यों मुनाफे की दरों में भिन्नताएँ होती हैं ।

यह कहा जाता है कि जहाँ सूद की दरों में सामान्य बनने की प्रवृत्ति होती है वहाँ मुनाफा के परिमाण में औसत बनने की । लेकिन यह कहना बड़ा कठिन है कि सूद की सामान्य दर क्या है ? यह कहना कि मुनाफा का परिमाण व्यवसाय-व्यवसाय में औसत होने की प्रवृत्ति रखता है, उतना अमान्य नहीं प्रतीत होता, क्योंकि अगर ऐसा नहीं होगा तो

लोग एक उद्योग को, जिसमें औसत से कम मुनाफा मिलता है, छोड़कर दूसरे उद्योग में, जिसमें औसत मुनाफा मिलता है चले जायेंगे और पहले उद्योग में पूर्ति में कमी होने से थोड़े ही समय में मुनाफा औसत हो जायगा। उसी तरह अगर किसी उद्योग में औसत से अधिक मुनाफा मिलता है तो उसमें बहुत व्यवसायी आकृष्ट होंगे और उनके प्रवृत्त होने से आपस की तीव्रतर प्रतियोगिता से मुनाफा औसत हो जायगा। लेकिन यह तभी संभव हो सकता है जब पूर्ण प्रतियोगिता और संगठन कर्त्ताओं में गतिशीलता हो।

अन्त में हम कह सकते हैं कि 'मुनाफा' से गली के आदमी का मतलब मोची के मुनाफे से भी होता है (यद्यपि मोची को मुनाफा नहीं होता, मजदूरी मिलती है अपनी मिहनत की), गैस-कम्पनी के मुनाफे से भी (यद्यपि उसको मुनाफा नहीं होकर सूद मिलता है जो उसकी पूँजी से पैदा होता है) और एक किसान के मुनाफे से भी (यद्यपि उसको मजदूरी और सूद दोनों मिलते हैं) ! मुनाफा इन दोनों का सम्मिश्रण नहीं, वह इनके सम्मिश्रण से कुछ भिन्न वस्तु है। हम पीछे उद्योग-प्रणेता या उद्योग-प्रवर्तक के कार्यों पर विचार कर चुके हैं। केवल दैनिकचर्या (रूटीन) के अनुसार व्यवस्था-कार्य (मैनेजरिएल वर्क) सम्पन्न करना उद्योग-प्रवर्तन या उद्योग-प्रणयन नहीं कहा जा सकता। उद्योग-प्रवर्तन (एन्टरप्राइज) के लिए आत्यन्तिक नियंत्रण की आवश्यकता है। उद्योग-प्रवर्तक केवल अपने प्रति उत्तरदायी होता है। लगान, सूद और मजदूरी के लिए दो व्यक्तियों (या दलों) में समझौता या इकरारनामा की जरूरत होती है लेकिन मुनाफा किसी समझौते की शर्तों का पालन नहीं करता !

एक सफल उद्योग-प्रवर्तक जो आदम्य उत्साहपूर्ण कार्य करता है, उसके कार्य में जो विलक्षणता रहती है उसके योग्य सभी लोग नहीं

होते। वह जो विशेष कार्य करता है उसका “अभाव मूल्य” अधिक होता है। उद्योग-प्रवर्तक बनने के लिए पास में पूँजी चाहिये और पूँजी को जोखिम में डालने (रिस्क करने) का साहस भी। बहुत ही कम लोग इन दोनों से परिपूर्ण होते हैं। किसीके पास एक है तो दूसरा नदारद ! संयुक्त पूँजी कम्पनी ने इस कठिनाई को कम तो जरूर कर दिया है, लेकिन वह उसको एकदम दूर नहीं कर सकी है, क्योंकि कम्पनी के प्रवर्तक खाली हाथ उसकी स्थापना नहीं करते, वे पूँजी के बूते पर उसका निर्माण करते हैं। उद्योग-प्रवर्तक वही बनेगा जिसको पैतृक उत्तराधिकार में मिली है पूँजी या जिसने स्वयं जमा कर ली है पूँजी ! उद्योग-प्रवर्तन (संगठन जिसका अधिक प्रचलित नाम है) में इसी कारण से एक “अभाव-मूल्य” समाविष्ट हो जाता है। हम और आप उद्योग-प्रवर्तक या संगठनकर्त्ता नहीं बन सकते। लेकिन वह बन सकता है, क्योंकि वह पूँजीपति का लड़ाई है। हम यहाँ पूँजीपति की शोषण-वृत्ति की चर्चा नहीं करते। इसमें पूँजीपति के मजदूरों, क्रेताओं (और कभी-कभी लेखकों के भी) के गला काटने का कोई संकेत नहीं, हम यह नहीं कहते कि शोषक का लड़का अधिक शोषक, चोर का लड़का लुटेरा होता है। वह तो विल्कुल दूसरी बात है। हम यह भी नहीं कहते कि शोषक का लड़का अपने बाप के कुकर्म का भी समर्थन करता है और बूढ़े बाप को नरक कुण्ड में ढकेलता है ! लेकिन अपवाद की बात को कौन टाल सकता है ?

अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यकरण

श्रम-विभाजन आधुनिक जीवन की कुन्जी है। हर क्षेत्र में इसकी प्रधानता हम पाते हैं। श्रम-विभाजन केवल व्यक्तियों के बीच ही नहीं होता बल्कि देशों के बीच भी होता है। आज सारी दुनिया एक आर्थिक इकाई बन गई है। परमाणु बम ने स्पष्ट शब्दों में बतला दिया है कि हमारा विश्व एक है—“दुनिया एक” का नारा बुलन्द !

आर्थिक जीवन इतना जटिल हो गया है कि बिना अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के किसी भी देश का काम नहीं चल सकता। यदि हर देश आत्म-पूर्ण बनने का प्रयत्न करे तो भी उसका मनोरथ पूर्ण नहीं हो सकता, उसे भुल मारकर दूसरे देशों की सहायता लेनी पड़ेगी, उनके साथ विनिमय-व्यापार करना पड़ेगा। यह एक तर्क है। दूसरा तर्क है कि प्रकृति की भी यही इच्छा है कि प्रत्येक देश किसी एक रोजगार में विशिष्टीकरण करे। प्रकृति ने किसी देश में कृषि करने के उपयुक्त उर्वर भूमि दी है तो किसी देश में उसने उद्योग-धन्धों को चलाने लायक प्रसाधन। इतना ही नहीं, किसी देश को एक वस्तु का एकाधिकार है तो दूसरे देश को दूसरी वस्तुओं का। अमेरिका में पूँजी की प्रचुरता है, जापान में सस्ते श्रम की, इंग्लैंड में औद्योगिक चातुरी की, आदि। जिस तरह मनुष्यों के प्राकृतिक गुण विभिन्न होते हैं और जिस तरह वे अपने प्राकृतिक गुण के अनुसार उसीके उपयुक्त कार्य में विशिष्टता प्राप्त करते हैं उसी तरह देशों को प्रकृति के द्वारा विभिन्न मात्राओं में उत्पादन के साधन मिले हैं और वे उन्हीं कार्यों को करते हैं जो अधिक मितव्ययिता और सुविधा के साथ किए जा सकते हैं और जिनसे अधिकतम लाभ हो सकता है। एक शब्द में हम कहते हैं कि किसी देश को उसी वस्तु को उत्पादित करना उत्तम होगा जिसमें उसकी “तुलनात्मक श्रेष्ठता”—कमपेयरेटिव एडवैन्टेज—हो।

अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यकरण या व्यापार वृहत पैमाने के वस्तु-विनिमय की तरह है। जिस तरह से दो व्यक्तियों के मध्य मुद्रा की संस्था के अभाव में वस्तुओं का आदान-प्रदान होता था उसी तरह दो देशों के बीच अभी होता है। एक देश दूसरे देश से चीजों और सेवाओं, आयों और पूँजी का आयात करता है और वह दूसरे देश को इनका निर्यात भी करता है। अतएव दोनों देशों के बीच आयात-निर्यात

होते हैं। वस्तुओं के बदले वस्तुओं को देने का इरादा प्रत्येक देश का रहता है। जब केवल दो ही देश आपस में आयात-निर्यात करते हैं तब उसको द्वैदेशीय—बाईलैटैरल—व्यापार कहते हैं। पीछे हम 'मुद्रा' अंश में देख चुके हैं कि किस तरह वस्तु-विनिमय में दो व्यक्ति लेन-देन करते हैं। लेकिन इच्छाओं का संयोग केवल दो ही व्यक्तियों के रहने से हो जाय, यह नहीं कहा जा सकता है। कभी-कभी तीन या तीन से अधिक कुछ व्यक्तियों के आपस में विनिमय करने पर ऐसा हो सकता है कि इच्छाओं का संयोग हो। लोक-विदित अफ्रीका के यात्री की कहानी आपको याद होगी जिसमें उसने अपना हार एक दूसरे आदमी को देकर वस्त्र लिया और वस्त्र देकर उसने एक तीसरे आदमी से हांथी का दाँत लिया और चौथे आदमी को हाथी का दाँत देकर नाव ली जिसको वह चाहता था। उसी तरह किसी देश को चार ही क्यों चालीस देशों से विनिमय करना पड़ सकता है और ये चालीस एक एकतालीस देश आपस में चीजों, आदि की तुम्बा-फेरी करते होंगे और तब कहीं हर देश का जो पावना-लेखा या शोधनाधिक्य (बैलेन्स ऑफ एकाउन्ट्स) है वह कहीं संतुलित होगा) ! हम आगे बतलायेंगे कि यह किस चीज को कहते हैं। हर देश का व्यापार-लेखा (बैलेन्स ऑफ ट्रेड) हर दूसरे देश के व्यापार-लेखा के लगाव में संतुलित हो, यह असंभव है। अतएव वर्तमान युग में द्वैदेशीय व्यापार की जगह बहुदेशीय—मल्टीलैटैरल—व्यापार चलता है, लेकिन हर देश को हर दूसरे देश के साथ अलग-अलग अपना हिसाब-किताब समझाना-बुझाना रहता है। फिर, यह क्रम वार्षिक नहीं होता। ऐसा नहीं होता कि प्रत्येक वर्ष के अन्त में किसी देश के पावना-लेखा काँटा बराबर हो जाय। एक अवधि में ही देश के आदेय (एसेट्स) और दायित्व (लाइबिल्टी) कहीं संतुलित होते हैं। १९४३ में लीग ऑफ नेशन्स की एक रिपोर्ट (दी नेटवर्क ऑफ वर्ल्ड ट्रेड) से पता चलता है कि लगभग ७० प्रतिशत व्यापार-

लेखा १९२०-२६ के बीच द्वैदेशीय और २५ प्रतिशत बहुदेशीय था तैयार मालों में जो द्वैदेशीय व्यापार था वह बहुदेशीय व्यापार पर निर्भर था क्योंकि उससे आवश्यक कच्चे माल मिलते थे ।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से लाभ

उपरोक्त कथन से यह साफ भलकता है कि आज के जमाने में हर देश अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए बहुदेशीय आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार करता हुआ द्वैदेशीय अभियोजन (एडजस्ट-मेन्ट) करने की कोशिश करता है । अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार अपरिहार्य एवं अनिवार्य है । इसको कोई देश अस्वीकार नहीं कर सकता । अब यह सोचना उचित होगा कि अन्तर्राष्ट्रीय (वैदेशिक) व्यापार से क्या लाभ होते हैं । सबसे पहला लाभ विभिन्न देशों के बीच श्रम-विभाजन के चलने के प्रतिफल होता है । वैदेशिक व्यापार सभी देशों को उन्हीं चीजों को तैयार करने में लगने के लिए प्रेरित करता है जिनके लिए वे सबसे अधिक समर्थ हैं । वे उन्हीं चीजों को तैयार करते हैं जिनके लिए उनके पास सर्वाधिक साधन हैं । इससे चीजों का उत्पादन सबसे उपयुक्त अवस्थाओं में होता है । वह उनको अपने यहाँ मनुष्य परिमाण में तैयार करता है और अन्य देशों में जहाँ उनका अभाव है भेज-बेच कर नफा भी उठाता है । इससे दुनिया की सम्पूर्ण सम्पत्ति और भलाई को बढ़ाने में सुविधा होती है । दूसरा उपभोक्ताओं को केवल वैसी ही चीजें उपभोग करने के लिये नहीं मिलतीं जिनका उत्पादन उनके देश में नहीं हो सकता है (या बड़ी दिक्रत के साथ हो सकता है) बल्कि उनको दुनिया के सबसे सस्ते बाजार से भी वे प्राप्त होती हैं । आयात ही इस बात का अकाट्य साक्ष्य है कि वह सस्ते बाजार से आ रहा है । तीसरा, इसके जरिए कितने देशों को कच्चे माल मिलते हैं जिनसे वे अपना औद्योगिक विकास कर सकते हैं ! चौथा,

कुछ ऐसी भी चीजें हैं जिनका देश के भीतर उत्पादन तो होता है मगर वे बाहर से भी मँगाई जाती हैं, क्योंकि देशिय उत्पादन यथेष्ट नहीं। इससे एक लाभ होता है। वह यह है कि देशीय उत्पादकों का दिमाग दुरुस्त रहता है और वे मनमाना मूल्य नहीं ले सकते, क्योंकि इसमें आशंका रहती है कि अधिक मूल्य होने पर विदेशी उत्पादक सस्ते दाम पर उनकी पूर्ति कर उनको खत्म कर डालेंगे। पाचवां, दुर्भिक्ष और अभाव के समय वैदेशिक व्यापार संव्रस्त देश के लिए वरदान बन जाता है। लेकिन वैदेशिक व्यापार के ऊपर सोलहवां आना अवलम्बित हो जाने से कुछ नुकसान भी हो सकते हैं, खासकर युद्ध-काल में जब कि यातायात के साधनों के अवरुद्ध हो जाने के कारण आयात अच्छी तरह से नहीं होता। जब किसी बड़े व्यापारी देश में व्यापारिक अवनति, जिसे मन्दी कहते हैं, शुरू होती है तब उससे जितने देश संबंधित होते हैं सभी अभिभूत होते हैं। सन् १९२६-२७ के बीच जो विश्व व्यापी मन्दी फैली थी उसका दुष्प्रभाव अनेकों देशों पर पड़ा। किसी-किसी देश के लोग विदेशी मालों के इतने बड़े प्रेमी बन जाते हैं कि जब उनका आयात कम या बन्द हो जाता है तब वे व्याकुल हो उठते हैं। जो कुछ भी हो, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से देशों का सुख बढ़ता है। यह अप्रत्यक्ष लेकिन कुशल उत्पादन की तरह है जो अकुशल उत्पादन से प्रत्येक दृष्टि से श्रेष्ठ होता है। अगर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार नहीं हो तो वैसे देश में जहां कि अफरात नारंगियां उत्पन्न होती हैं और जहां उत्तरी ध्रुव के जैसा बर्फ नहीं मिलती वहां उनका मूल्य केवल नाममात्र का होगा। हो सकता है, बर्फ से भी कम दाम हो ! अतएव अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय द्वारा दुनिया-भर के प्राकृतिक साधनों का ही केवल सदुपयोग नहीं होता वरन् भिन्न-भिन्न देश, जिनमें जिस-तिस उत्पादन-साधन का अभाव है, जिनमें उत्पादन-साधनों के परिमाण और गुण समान नहीं हैं, इससे पूरा फायदा उठा पाते हैं। अगर एक आदमी पोस्टकार्ड और लिफाफा

दोनों बना सकता है तो उसके लिए अच्छा है कि वह उन दोनों से केवल एक ही चीज अधिक बनावे जिसमें उसकी पहुँच विशेष है और जिससे वह उसमें विशिष्टता प्राप्त कर सके और दूसरी चीज को कम बनावे और शेष दूसरे आदमी से खरीद ले और पहली चीज उससे या किसी और आदमी से बेचे। लेकिन यह ख्याल रखना चाहिये कि यातायात-खर्च को जो जोड़ने के बाद जब आयात (या तदर्थ-निर्यात) से बचत होगी तभी कोई देश ऐसा करेगा, अन्यथा नहीं। जलयान, वायुयान, मौद्रिक और बैंकीय संस्थाओं के खुलने और आशातीत उन्नति करने से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में अपूर्व लाभ हुआ है। अतः हम देखते हैं कि अनुकूल अन्तर्राष्ट्रीय विनियम से किसी देश की “आयोपार्जन-शक्ति” बढ़ती है और बढ़ सकती है। उससे देश में जो राष्ट्रीय आय होती है वह बढ़ जाती है। बन्द अर्थ-प्रणाली (क्लोज्ड इकॉनमी) की, जिसमें एक देश का कोई नाता दूसरे देश से नहीं रहता, राष्ट्रीय आय उस देश की खालीस राष्ट्रीय उत्पत्ति के बराबर होती है, लेकिन जिस देश का आदान-प्रदान अन्य देशों के साथ होता है अर्थात् जो खुली अर्थ-प्रणाली (ऑपन इकॉनमी) है उसकी राष्ट्रीय आय अपनी खालिस उत्पत्ति और आयात-निर्यातों के अन्दर के योगफल (अन्तर, धनात्मक और ऋणात्मक दोनों) होगा। जब देश निर्यात से आयात अधिक (कम) करम में कर रहा है तब वह ऋणात्मक (धनात्मक) होगा) के बराबर होगी। अधिक परिमार्जन के साथ हम कह सकते हैं कि किसी देश की खालिस राष्ट्रीय आय को निकालने के लिए हमें उसके पावना-लेखा का भी विचार करना होगा।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से खतरा

लेकिन जैसा कि ऊपर इशारा कर आए हैं, यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का प्रारंभिक और प्रत्यक्ष प्रभाव लाभदायक और होता है उसको

अवरुद्ध करने का प्रारंभिक और प्रत्यक्ष प्रभाव हानिकर हो सकता है तथापि पहले कार्य का अन्तिम और अप्रत्यक्ष प्रभाव हानिकर और दूसरे कार्य का लाभदायक भी हो सकता है। नये देशों के लिए (देश भी नये-पुराने होते हैं ! नई दुनिया, पुरानी दुनिया !!) वैदेशिक व्यापार का प्रारंभिक तथा प्रत्यक्ष प्रभाव प्रतिकूल पड़ सकता है, लेकिन हमें इससे उसको जो क्षति पहुँचती है, उसको भी देखना होगा, क्योंकि इसके कारण उसमें जो उद्योग-धंधे अच्छी तरह से चल सकते हैं वे विकसित नहीं होने पाते। कितने देशों का आर्थिक इतिहास इस बात का साक्षी या गवाह है। यही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का अप्रत्यक्ष नुकसान है। ऐसा नुकसान पुराने देशों के भी एक भाग को पहुँच सकता है, लेकिन चूँकि उनमें निपुण श्रम, सम्पन्न पूँजीपतियों, सुव्यवस्थित मौद्रिक और बैंकीय संस्थाओं की प्रचुरता है, इसलिए उनमें इससे बचने की शक्ति भी है।

दोनों पहलुओं के ऊपर विचार करने के उपरान्त हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से देशों की आयोपार्जन शक्ति उसी तरह बढ़ती है जिस तरह से उत्पादन के ढंगों में (टेक्निकल) उन्नति होने से। लेकिन कौन देश उससे कितना फायदा उठा सकता है, यह निम्नलिखित तथ्यों के ऊपर निर्भर करेगा—(१) देश-देश के बीच के उत्पादन-व्यय के अनुपातों में (अर्थात् श्रम और पूँजी की पारस्परिक निपुणता-कुशलता में अन्तर) विभिन्नता, (२) पारस्परिक आदान-प्रदान की शर्तों (टर्म्स) पर, (३) परस्परिक माँग पर (अर्थात् एक-दूसरे की माँग की लोच की मात्राओं पर)—किसके लिए किस चीज की माँग अधिक (कम) जरूरी अर्थात् लोचहीन (लोचपूर्ण) है। (४) मौद्रिक आयों के स्तर पर।

स्वतन्त्र व्यापार-नीति बनाम व्यापार-संरक्षक नीति

स्वतंत्र व्यापार का मतलब होता है कि व्यापार की दिशा-गति

पर, किसी तरह का कोई निरोध या अवरोध नहीं लगाया गया है और उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति को कोई नहीं रोक पाता। व्यापार-संरक्षण का मतलब होता है कि सरकारी विधान द्वारा वैदेशिक प्रतियोगिता से घरेलू उद्योग-धन्धों की रक्षा करने की कोशिश की जाय। व्यापार का संरक्षण व्यवस्थापिका से स्वीकृत कानून, चुंगी (आयात-निर्यात पर), लाइसेंस, आयात-निर्यात के एकाधिकार (सरकार का प्रत्यक्ष आयात-निर्यात स्वयं करना, इसे राजकीय व्यापार—स्टेट ट्रेडिङ्ग—भी कहते हैं), कोटा (किस चीज को कितनी मात्रा में मँगाया-भेजा जा सकता है), विशेष सुविधा (खास-खास देश को) और विनिमय-नियंत्रण (जिसके अनुसार सरकार वैदेशिक मुद्राओं की माँग-पट्टि को नियंत्रित करके उनके मूल्यों को नियंत्रित करती है), आदि से होता है।

स्वतंत्र व्यापार के पक्ष में निम्नलिखित तर्क दिये जाते हैं—(१) इससे देश-देश के बीच श्रम-विभाजन होता है। (२) देश सस्ते बाजार से कुछ चीजों को खरीदते और महँगे बाजार में कुछ चीजों को बेचते हैं। इन दोनों लाभों से देश की वास्तविक आय (वस्तुओं और सेवाओं के रूप में) बढ़ जाती है। (३) देशों में जो उत्पादक रहते हैं, वे निहित स्वार्थों के शिकार नहीं बनने पाते। वे औद्योगिक निपुणता को बनाये रखने और बढ़ाते जाने तथा मूल्य को कम रखने की प्रवृत्तियों द्वारा संचालित होते हैं। इस तरह वे एकाधिकारों का निर्माण नहीं कर पाते, क्योंकि उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगिता की आशंका बनी रहती है। प्रतियोगिता प्रगति और विकास की एक प्रेरिका शक्ति है। (४) देशों के बीच सद्भावना रहती है, और वे सहयोगपूर्वक काम करने का महत्व आँकते हैं।

व्यापार-संरक्षण के समर्थक उसके पक्ष में ये तर्क देते हैं—(१) इससे नवजात उद्योग-धन्धों की रक्षा होती है। “शिशु का लालन-पालन, बच्चे की रक्षा और वयस्क को स्वतंत्र करना चाहिए” यही उनका नारा है। (लेकिन बुढ़ापे में भी तो ठेगानी देनी चाहिए !)

अगर उनको यों ही छोड़ दिया जाय तो वे अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगिता की भीषणता में झुलस जायेंगे और कभी पनपने नहीं पायेंगे । अतएव इस नीति को अगर अस्थायी यत्न के रूप में अपनावें तो यह लाभदायी सिद्ध होगा और हुआ भी है । (२) इससे कोई देश एकदम परावलम्बी नहीं बनने पाता और वह अपने यहाँ विशद उद्योग-व्यवस्था स्थापित करता है । लेकिन इसके संबंध में यह कहा जा सकता है कि स्वावलम्बन इतना नहीं होना चाहिये कि उससे देश को सस्ती मिलने वाली चीजों को भी अधिक व्यय पर तैयार करना पड़े । इससे श्रम एवं पूँजी की बचत होने के बदले अपव्यय होगा । (३) चूँकि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एक विजली के तार की तरह है इसलिये किसी समर्थ देश में बेकारी फैलने से उसका जहर दूसरे कम समर्थ देशों पर, जो उससे व्यापार के जरिये संबन्धित हैं, पड़ेगा । इसलिये पूर्ण रोजी के ध्येय से व्यापार-संरक्षण होना चाहिये । (४) इससे बहु-मूल्य खनिज-पदार्थों और कच्चे मालों की रक्षा हो सकती है, क्योंकि अगर उनके निर्यात पर समुचित नियंत्रण नहीं रहे तो वे अल्पकाल में समाप्त हो जायेंगे । (५) देश की रक्षा के लिए भी इसकी जरूरत है । देश में खाद्य-पूर्ति अधिक रहनी चाहिये और उसकी वृद्धि को प्रोत्साहित करना चाहिये । देश में बन्दूकों का भी रहना जरूरी है । अतएव मकखन और बन्दूक के लिये इसकी नितान्त आवश्यकता है । इससे क्रय और मोल-मोलाई की शक्ति बढ़ेगी और दुश्मन से प्रतिशोध लेने में आसानी होगी । (६) पिछड़े देशों में इस नीति से लोगों में राष्ट्र-प्रेम जाग्रत करने में मदद मिलती है । (७) इससे आराम और विलास की चीजों के अनियंत्रित आयात पर रोक लगाई जा सकती है । इससे देश का धन अनुचित परिमाण में बाहर नहीं जाने पायगा । फिर देशीय बाजार भी सुरक्षित रहेगा । उसको विदेश-वाले अपनी चीजों की बाढ़ से अपहृत नहीं कर सकते ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि व्यापार-संरक्षण नीति के पक्ष में भी

कुछ काफी प्रभावोत्पादक तर्क हैं और उनको एक हद तक माना जा सकता है। यही कारण है कि कोई भी ऐसा देश आज दुनिया में नहीं है जो स्वतंत्र व्यापार का गला घोटकर निरपेक्ष रूप से व्यापार-संरक्षण को अपना ले। अक्सर हर देश दोनों से लाभान्वित होने की कोशिश करता है।

अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यकरण कैसे चलता है

आप अपने पास की चीजों के ऊपर एक बार नजर डालिए। आप पार्थेंगे कि उनमें से कुछ चीजें भारत की बनी हुई नहीं हैं, बल्कि उनमें से कुछ चीजें दुनिया के कोने-कोने से आई हुई हैं—अमेरिका से, ग्रेट ब्रिटेन से, जापान से, स्वीटजरलैंड से, जर्मनी से, फ्रांस से, स्पेन से, न्यूजीलैंड से—कितना नाम गिनाया जाय ! मान लीजिए, एकाएक आवागमन और यातायात के सारे वैज्ञानिक साधन फेल कर जायँ, अगले सदा के लिए नहीं तो, मान लीजिये एक साल के लिए। तब क्या होगा ? क्या हमारे देश के कुछ व्यापारियों को पुराने जमाने-जैसा ऊँट और खच्चर की मदद से देश-दुनिया की यात्रा नहीं करनी होगी ? इसमें कितना समय और कितनी मिहनत लगेगी ? आप अन्दाज लगा सकते हैं। कम-से-कम भारत का मुस्वाटु आम, इङ्गलिश मेमों को मय्यसर नहीं हो सकेगा ! लेकिन इतनी चीजें आपके पास आईं कैसे ? क्या आपने सीधे उन देशों से मँगा लिया। (कुछ अपवादों को छोड़कर) आपने ऐसा नहीं किया। आपने तो विदेशी सिक्के भी—पाउण्ड, डॉलर, मार्क, रूबल, फ्रांक, आदि—अभी तक नहीं देखें होंगे। हमने भी पेनी के सिवाय और किसी को अभी तक नहीं देखा है। आप दुकानदारों से खुदरा दंग पर इन चीजों को खरीदते हैं। दुकानदार अपने बड़े व्यापारियों से और व्यापारी विदेश से इन्हें अपने बैकों के जरिये खरीदते हैं। इङ्गलैंड का विक्रेता भारतीय क्रेता के हाथों कोई चीज बेचता है,

लेकिन किसके बदले में—पाउन्ड या रुपये के ? आप कहेंगे पाउन्ड के बदले में । ऐसा क्यों ? क्या रुपए का मूल्य नहीं ? जरूर है है । एक पाउन्ड के बदले १३½ रुपये मिल सकते हैं । लेकिन बात यह है कि इंग्लिश विक्रेता का घरेलू काम तो वहाँ की जो मुद्रा—पाउन्ड—है उसीसे चलेगा । उसी तरह कोई भारतीय विक्रेता भी किसी इंग्लिश क्रेता से मूल्य रुपया के रूप में लेगा ही । तो भारतीय क्रेता को इंग्लिश विक्रेता को देने के लिए पाउन्ड कहाँ से मिलते हैं ? जवाब है—बैंक से (या कभी-कभी सरकार के यहाँ से) । तो क्या वह बैंक से रुपया के बदले में पाउन्ड लेकर उसको सीधे इंग्लिश व्यापारी के हाथ भेज देता है ? उत्तर है—ऐसा सामान्यतया नहीं होता । आम तौर से क्रेता के बैंक को ऐसा करना पड़ता है । (ऐसे विनिमय बैंक का परिचय पीछे दे आये हैं) और इसकी भी कोई खास जरूरत नहीं है । अर्थात् क्रय-विक्रय के ठीक परिमाण में किसी मुद्रा के आवागमन की आवश्यकता भी नहीं है । विनिमय-बिलों से इस काम में सुविधा होती है । इंग्लिश विक्रेता एक विनिमय-बिल बनाकर भारतीय क्रेता के पास भेज देता है और वह उसपर हस्ताक्षर कर देता है । वह अपने बैंक को उसको देता है और मूल्य भेज देने को कहता है या वह बिल पर दस्तखत कर वापस भेज देता है । इंग्लिश क्रेता उस तैयार बिल को अपने बैंक के पास ले जाता है और उसकी कटौती (बट्टा) कराकर पाउन्ड पा लेता है या अपने खाता में जमा कर देता है । उसका बैंक भारतीय क्रेता से या उसके बैंक से उतनी मुद्रा ले लेता है । या वह अपने भी दूसरे बैंक से उसे फिर बेच सकता है । कहने का मतलब है कि इसी तरह क्रय-विक्रय होता है । लेकिन ऐसा भी होता है कि जब भारतीयों और अङ्गरेज व्यापारियों के बीच परस्पर क्रय-विक्रय हो रहा है तब बिना सिक्काओं के इधर-उधर भेजे ही सबको अपनी-अपनी जगह पर अपने देश की मुद्रा मिल जाय । मान लें एक और एक भारतीय क्रेता है जो एक इंग्लिश विक्रेता

से खरीद रहा है। दूसरी ओर एक इंगलिश क्रेता है जो एक भारतीय विक्रेता से खरीद रहा है। मान लीजिए दोनों दशाश्रों में क्रय-विक्रय की रकमें समान हैं। तब तो यह काम बड़ा ही सुगम बन जाता है। भारतीय विक्रेता को भारतीय क्रेता से और इंगलिश क्रेता को इंगलिश विक्रेता से अपनी-अपनी रकम मिल जाती है। लेकिन जब रकमें बराबर नहीं हैं तब दो युग्मों के बदले तीन या इससे भी अधिक युग्मों के आपसी लेन-देन से विनिमय की रकम पूर्ण होगी।

इस तरह हम देखते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार किस तरह घटित होता है। लेकिन हमें किसी देश के व्यापार के ऊपर सामूहिक दृष्टि से विचार करना चाहिये। इसके लिए हमें उसके “पावना-लेखा” या “शोधनाधिक्य” के ऊपर दृष्टिपात करना होगा।

पावना-लेखा अर्थात् शोधनाधिक्य

इसको हम एक टेबुल की सहायता से अधिक खूबी के साथ समझा सकते हैं।

आदेय-धन-आयात (ऐसेट्स)	प्रदाय-ऋण-निर्यात (लाइबिलिटीज)
(१) व्यापार-लेखा	
(वैलेन्स ऑफ ट्रेड)	
(१) प्रत्यन्त (मिजिबुल) वस्तुएँ	(१) प्रत्यन्त (मिजिबुल) वस्तुएँ
(२) अभियोजन—	(२) अभियोजन—
(अ) खुश्की सीमावर्ती व्यापार	(अ) खुश्की सीमावर्ती व्यापार
और (ब) गलत मूल्यकरण के कारण	और (ब) गलत मूल्यकरण के कारण
(१) मिजान :—	(१) मिजान :—

(पृष्ठ २०७ पर शेषांश—जगातार)

(२) खाता-लेखा
(वैलेन्स ऑफ एकाउन्टस)
(अ) आया-खाता

(३) अग्रस्थूल (इनमिजिबुल) सेवाएँ —	(३) अग्रस्थूल (इनमिजिबुल) सेवाएँ —
<p>(अ) जहाजी यातायात-व्यय (ब) बन्दरगाह शुल्क (स) कमीशन, बीमा-खर्च, दलाली (द) डाक, तार-बेतार खर्च (इ) विदेशी भ्रमकों (यात्रियों), दूतों का व्यय (फ) बैंक और मुद्रा-संस्था व्यय (ज) दान-पुण्य की रकमें— प्रवासियों और विदेशी सरकारों और विश्व-संघों द्वारा (ह) मुद्रा का आवास (रेमीटेन्स) (क) हरजाना, खिराज, आदि (ल) सरकारी निर्यात (४) विदेशों में पूँजी-विनियोग पर सूद और डिबिडेन्ड (५) पूँजीगत वापसी-आदाय</p>	<p>(अ) जहाजी यातायात-व्यय (ब) बन्दरगाह शुल्क (स) कमीशन, बीमा-खर्च, दलाली (द) डाक, तार-बेतार खर्च (इ) स्वदेशी-भ्रमकों (यात्रियों), दूतों का व्यय (फ) बैंक और मुद्रा-संस्था व्यय (ज) दान-पुण्य की रकमें— आवासियों और देशीय सरकारों और संस्थाओं द्वारा (ह) मुद्रा का प्रवास (रेमीटेन्स) (क) हरजाना, खिराज आदि (ल) सरकारी आयात (४) स्वदेश में लगे विदेशी पूँजी-विनियोग, पर सूद और डिबिडेन्ड (५) पूँजीगत वापसी-प्रदाय</p>

(२) मिजानः— ।

(२) मिजानः—

(ब) पूँजी-खाता

<p>(६) विदेशों को दिया ऋण (अ) लघुकालीन पूँजी-ऋण (द) दीर्घकालीन पूँजी-ऋण (७) सिक्राएँ (अ) सोना-चाँदी (ब) स्वर्ण-रजत मुद्राएँ (स) वैदेशिक सिक्राएँ</p>	<p>(६) विदेशों से लिया ऋण (अ) लघुकालीन पूँजी-ऋण (द) दीर्घकालीन पूँजी-ऋण (७) सिक्राएँ (अ) सोना-चाँदी (ब) स्वर्ण-रजत-मुद्राएँ (स) वैदेशिक सिक्राएँ</p>
------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------	------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------

(३) मिजानः— ।

(३) मिजानः—

कुल मिजान =
(१)+(२)+(३)=

कुल मिजान
(१)+(२)+(३)

अब इसकी व्याख्या देखिए । पावना-लेखा के मोटामोटी दो भाग किए गए हैं—(१) व्यापार-लेखा और (२) खाता-लेखा । खाता-लेखा के दो उपभाग किए हैं—(१) आय-खाता और (२) पूँजी-खाता । व्यापार-लेखा तो स्वतः स्पष्ट है । ऐसा शायद ही कोई देश हो जिसका यह खाता संतुलित हो अर्थात् उसके आदेय और प्रदाय इस क्षेत्र में समान हों । या तो उसके आदेय उसके प्रदायों से अधिक होते हैं या कम । पहली अवस्था में आदेयाधिक्य (एक्सपोर्ट सरप्लस) और दूसरी अवस्था में प्रदायाधिक्य (इम्पोर्ट सरप्लस) होता है । आदेयधिक्य होने पर व्यापार-लेखा अनुकूल और प्रदाय-धिक्य होने पर वह प्रतिकूल होता है । पहले में देश धनी, दूसरे में देश ऋणी कहा जाता है । लोग पहले से प्रसन्न और दूसरे से दुखी होते हैं । व्यवस्थापिका सभाओं के सदस्य दूसरी अवस्था में अपने गर्जन-तर्जन से टेबुल-कुर्सी तक हिल्ला डालते—सरकार को नाना प्रकार के सुझाव देते हैं ! लेकिन व्यापार-लेखा ही सब कुछ नहीं है । जबतक किसी देश के खाता-लेखा के ऊपर विचार-विमर्श नहीं किया जाता तबतक किसी प्रकार का निर्णय देना अथवा निष्कर्ष पर पहुँचना अधूरा होगा । खाता-लेखा को पहला उप-भाग आय-खाता है । आय-खाता का पहला मद है—अप्रत्यक्ष सेवाएँ । अप्रत्यक्ष सेवाओं का क्या मतलब है ? इसका मतलब है कि इनको सरकारी अफसर बन्दगाहों पर दर्ज नहीं करते लेकिन इनसे देश को आय होती है और इनपर व्यय भी करना पड़ता है । ग्रेट-ब्रिटेन को तो इस जरिए से तो पहले अप्रार आय होती थी और अभी भी होती है यद्यपि अब उसका सितारा कम हो गया है, दूसरे देशों का (अमेरिका, रूस, आदि) सितारा अब तेज हो गया है । भारत में भी इस जरिया की वृद्धि हो रही है । विदेशी धार्मिक स्थानों और काश्मीर, आदि दर्शनीय-रमणीय जगहों का भ्रमण करने आते हैं । बहुतेरे विदेशी यात्री (पुरुष-महिलाएँ) विश्व-वंद्य गाँधी जी की समाधि पर पुष्प-

मालाओं को अर्पित करने, पंडित नेहरू जी से मिलने, आदि के लिए आते हैं। भारत को अपने आर्थिक पुनर्निर्माण में और खाद्य-संकट निराकरण करने में कई देशों से (अमेरिका, रूस, चीन, आदि) दान (खैरात !), आदि मिल रहे हैं। यहाँ से भी कहीं-कहीं दान भेजा जाता है। कितनों देशों का रिवाज है कि वहाँ के सरकारी आयात-निर्यात को प्रकाशित नहीं किया जाता, क्योंकि वह गोपनीय वस्तु है, लेकिन सरकार को उसका हिसाब-किताब रखना पड़ता है और जब हम समूचे देश का शोधनाधिक्य तैयार कर रहे हैं तब उसका रहना अनिवार्य बन जाता है। आय-खाता का दूसरा मद भी स्पष्ट ही है और इसके बारे में “राष्ट्रीय पूँजी” और “राष्ट्रीय आय” के संबंध में लिखा जा चुका है। उसके तीसरे मद का अर्थ है कि कोई देश-विदेश में पूँजी-विनियोग करता है और वहाँ से पूँजी अपनी मियाद के बाद वापस होती है। उसी तरह वह वापस भी की जाती है। ऐसा संभव है कि आय-खाता भी दोनों पक्षों में बराबर न हो और इसके व्यापार-लेखा और आय-खाता के मिलाने पर भी पावना-लेखा संतुलित न हो। लेकिन जब हम पूँजी खाता को संयुक्त कर लेंगे तब वह अवश्यमेव संतुलित हो जायगा। पूँजी-खाता से ही पूरी तरह पता चलता है कि कौन देश धनी और कौन देश ऋणी है। उसको देखने-विचारने के बाद व्यवस्थापिका में मुट्ठी बांध-कर या हाथों को भांज-भांजकर कुछ कहना-सुनना अच्छा होगा ! क्योंकि अगर ऋणी देश अपने ऋणत्व से उन्मृण होने के लिए कोशिश नहीं करता तो वह रसातल में चला जायगा, क्योंकि यह तो पूँजी-निर्माण और पूँजी-रक्षा नहीं, बल्कि पूँजी-उपभोग है जो बड़ा हृदय-ग्राहक होता है, लेकिन बड़ा छुत्ती भी ! हम “पूँजी” शीर्षक में इसके ऊपर लिख आये हैं।

अब पावना-लेखा के लक्षणों के ऊपर विचार कीजिये। पावना-लेखा राष्ट्रीय आय और राष्ट्र में रखी खालिस उत्पत्ति के बीच का

अन्तर है। यदि यह घनात्मक है तो देश धनी है और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार उसके पक्ष में है। पावना-लेखा बराबर संतुलित होगा। वह किसी एक खास देश से संतुलित हो, ऐसी बात नहीं। उसे उन सभी देशों के लगाव में जिनके साथ वह व्यापार कर रहा है संतुलित होना होगा। अगर द्वैदेशीय व्यापार होने लगे तो दुनियाभर के रहन-सहन का पैमाना गिर जाय। उसका मापक एक वर्ष नहीं माना जा सकता। उसका सच्चा मापदंड एक अवधि होनी चाहिये। उसे व्यापार-लेखा के साथ समेटना नहीं चाहिये। लेकिन यह मान्य है कि उसका सबसे प्रधान अंग व्यापार-लेखा ही है और व्यापार-लेखा की गति-विधि की सबसे अधिक महत्ता भी है।

जब हम कहते हैं कि पावना-लेखा संतुलित होता है तब हमारा मतलब यह होता है कि अगर किसी देश के द्वारा दूसरे देशों से प्राप्त किये हुए आदेय उनको दिये प्रदायों से अधिक (कम) होते हैं तब दूसरे देशों में उसके जो पावना होते हैं वे बढ़ते (घटते) हैं। दूसरे शब्दों में, वह इन देशों को पावना कर्ज पर देता है (या उनसे कर्ज लेता या उनको दिये वापस लेता है)। इसलिये उसके दूसरी आयों-आदेयों-में इन ऋणों-प्रदायों-को जोड़ने या घटाने पर इसका पावना निकलेगा।

असंतुलित पावना-लेखा का परिणाम

जब किसी देश का पावना-लेखा संतुलितावस्था में रहता है तब उस देश की देशीय मुद्रा की मांग और पूर्ति समान होती है। जब उसका पावना-लेखा प्रतिकूल हो जाता है तब उसे प्रत्यक्ष वस्तुओं और अप्रत्यक्ष सेवाओं के निर्यातों को बढ़ाकर या उनके आयातों को घटाकर संतुलन अथवा अभियोजन स्थापित करना पड़ता है। संतुलित पावना-लेखा किसी देश की आर्थिक व्यवस्था की ठोसता का चिह्न है। उसी तरह असंतुलित पावना-लेखा उसकी आर्थिक विपन्नता (बैंकरप्सी)

का द्योतक है। किसी देश के निर्यातों की मात्रा कुछ कारणों से न्यून हो जा सकती है—मौसमी कारणों से, दूसरे देशों में उनकी मांग कम हो जाने से (माँग कई वजहों से वहाँ कम हो जा सकती है—उनकी क्रय-शक्ति के घटने से, उस देश में उत्पादन-व्यय के बढ़ने से, मूल्य के बढ़ने से, या अन्य देश के कम दाम पर पूर्ति करने के लिए तैयार होने पर), उस देश की मुद्रा के अधिमूल्यन (ऐप्रिसिय-एशन) होने से, आदि। जब कोई देश के विपक्ष में उसका पावना-लेखा (खासकर व्यापार-लेखा और आय-खाता) हो जाता है अर्थात् जब वह आयात अधिक और निर्यात कम करता है तब उसकी मुद्रा (जैसे भारत का रुपया) का मूल्य, उन देशों के लगाव में जिनका पावना-लेखा उस देश की तुलना में उनके पक्ष में है, कम हो जाता है अर्थात् विदेशी को मुद्रा की एक इकाई अधिक मात्रा में उस देश की मुद्रा को खरीदने लगती है और यह क्रम उस समय तक चलता रहता है जब तक कि उसका मूल्य बढ़ाकर स्वाभाविक स्तर न प्राप्त कर ले। ऐसा इसलिए होता है कि वह पहले जितना आयात नहीं कर सकता। अतएव आयात की मात्रा के घटने पर उसके आयात और निर्यात समान हो जाते हैं। दूसरी और विदेशी मुद्राओं का मूल्य पावना-लेखा के पक्ष में होने के कारण बढ़ जाता है और मूल्य-स्तर के बढ़ने से उनके देशों से पहले-जैसा निर्यात नहीं होता। फलतः उनके आयात और निर्यात बराबर हो जाते हैं। लेकिन यह उस समय अन्य यन्त्रों के द्वारा रोका जा सकता है।

विनिमय-दर का निर्धारण

किसी देश की विनिमय-दर उसकी मुद्रा की मांग एवं पूर्ति की शक्तियों के घात-प्रतिघात से निर्धारित होती है। जब उसकी मांग उसकी पूर्ति के ठीक बराबर होती है तब विनिमय-दर संतुलित होती है। जब उसकी मांग उसकी पूर्ति से अधिक होती है तब विनिमय-दर

उसके अनुकूल और मांगने वाले देश (या देशों) के प्रतिकूल हो जाती है । जब उसकी मांग उसकी पूर्ति से कम होती है तब विनिमय-दर उसके प्रतिकूल और मांगने वाले देश (या देशों) के अनुकूल हो जाती है । लेकिन विनिमय-दर में जो उत्थान-पतन होगा उसका परिणाम क्या होगा ?

हम जानते हैं कि वर्तमान काल में देश अपरिवर्त्य पत्र-मुद्रा के प्रमाण पर आधारित हैं । उनमें उनके केन्द्रीय बैंक का, जो सार्वजनिक या राजकीय बैंक है, नोट, जिसे करेन्सी कहते हैं, ही देशभर के लिये कोश-प्रवेश्य मुद्रा है । पीछे ही बतला आये हैं कि उसपर जो आई० ओ० यू० ('मुझे आपको इतना देना है') लिखा रहता है उसका मतलब पहले, जब कि सोना या चाँदा का सिक्का चलता था, यह था—जो उसको लेकर केन्द्रीय बैंक के दफ्तर में जायगा उसको उसके बदले में उतने मूल्य का धातवीय सिक्का मिल जायगा । लेकिन अब तो सोना या चाँदी का सिक्का नहीं चलता, कागज नोट चलता है । इसलिए उसके बदले में किसी को धातवीय सिक्का नहीं मिल सकता । पहले एक देश दूसरे देश में (से) सोना भेजकर (मँगाकर) अपना पावना-लेखा संतुलित करता था । लेकिन स्वर्ण का आवागमन उसी दशा में होता था जब विनिमय की दर स्वाभाविक दर के एक प्रतिशत से अधिक बढ़-घट जाती थी । पत्र-मुद्रा प्रमाण के तत्वावधान में किसी एक देश की मुद्रा का मूल्य अपनी क्रय-शक्ति पर निर्भर करेगा अर्थात् एक पाउन्ड में कितने फ्रांक खरीदने की क्रय-शक्ति है । अतएव दो देशों के बीच जो विनिमय-दर होगी वह उन दोनों की पत्र-मुद्राओं की पारस्परिक क्रय-शक्ति पर निर्भर करेगी । किसी पत्र-मुद्रा की क्रय-शक्ति का अर्थ क्या है ? उसका अर्थ यों रखा जा सकता है—यातायात-खर्च को पृथक् करने पर फ्रांस में एक पाउन्ड की क्रय शक्ति उतनी होगी जितनी इङ्ग्लैंड में है । एक पाउन्ड फ्रांस

में वस्तुओं और सेवाओं को ही समन्वय खरीदेगा जो वह इङ्गलैंड में खरीदता है। पाउन्ड की क्रय-शक्ति इंग्लैंड में जो मूल्य-स्तर होगा उसी पर निर्भर करेगी। फ्रांक की क्रय-शक्ति फ्रांस में जो मूल्य-स्तर होगा उसी पर निर्भर करेगी। यह हम “मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन” शीर्षक परिच्छेद में देख चुके हैं। अगर किसी कारण से इंग्लैंड में मूल्य-स्तर दुगुना हो जाय और फ्रांस में मूल्य-स्तर स्थिर रहे तो पाउन्ड की क्रय-शक्ति पहले से आधी हो जायगी और पहले से आधी संख्या में फ्रांक को खरीदेगा। कहने का मतलब है कि दो देशों के बीच की विनिमय-दर उन दोनों के मूल्य-स्तरों का लगाव होगा। मान लीजिए ‘अ’ और ‘ब’ दो देश हैं और दोनों के बीच की विनिमय दर है ‘अ’ की मुद्रा की १ इकाई = ‘ब’ की मुद्रा की ४ इकाइयाँ। अगर ‘अ’ का मूल्य-स्तर २०० प्रतिशत और ‘ब’ का मूल्य-स्तर ४०० प्रतिशत हो जाय तब विनिमय की दर यों होगी—‘अ’ की मुद्रा की १ इकाई = ‘ब’ की मुद्रा की $4 \times \frac{200}{400} = 2$ इकाइयाँ। लेकिन यह सिद्धांत दोषकालीन प्रवृत्ति को प्रदर्शित करता है, न कि लघुकालीन प्रवृत्तियों को। दो कोटियों के प्रभावों से किसी देश की जो सामान्य विनिमय-दर है वह परिवर्तित हो जा सकती है—(अ) मुद्रा की माँग एवं पूर्ति सम्बन्धित शक्तियों में असंतुलन—यह व्यापारिक अवस्थाओं, स्टॉक एक्सचेन्ज प्रभावों और बैंक प्रभावों के कारण उत्पन्न हो सकता है। (ब) मुद्रागत अवस्थाएँ—मुद्रा के मूल्य में वास्तविक या संभाव्य परिवर्तन हो सकते हैं। जब किसी देश की मुद्रा की अधिस्फीति—इन्फ्लेशन—होती है या होनेवाली रहती है तब उस देश से दूसरे देश अपनी निधि निकालने लगते हैं। उस मुद्रा से लोग भाग खड़े होते हैं (फ्लाइट), उसकी माँग कम होगी है जिससे उसकी विनिमय दर न्यून अर्थात् प्रतिकूल हो जाती है। जब किसी देश में अन्स्फीति—डिफ्लेशन—होनेवाली रहती है तब दूसरे देश फाटका सम्बन्धी लाभ उठाने के लिए उस मुद्रा को अधिक खरीदने लगते हैं जिससे

उसकी विनिमय-दर बढ़ जाती है। विनिमय-दर में जो परिवर्तन होंगे वे उक्त दोनों प्रभावों के घात-प्रतिघात के अनुपात में होंगे।

पावना-लेखा के संतुलन को दूर करने के यत्न

जब किसी देश के पावन-लेखा में असंतुलन हो (यहाँ विशेष प्रयोजन अप्रतिकूल असंतुलन से है जब कोई देश ऋणी हो जाता है और जब उसकी मुद्रा की विनिमय दर न्यून हो जाती है) तब उसके निराकरण के लिए कुछ यत्नों को काम में लाना पड़ेगा यदि उस देश की अर्थ-प्रणाली को ठोस अवस्था में रखना है। कहने की आवश्यकता नहीं कि पहले उन कारणों को उन्मूलित करना होगा जिनसे इस प्रकार की स्थिति उत्पन्न होती है। पावना-लेखा के असंतुलन को दूर करने के पाँच यत्न हैं, ये सभी चाहते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन की तरलता (लिक्विडिटी) को बढ़ा दें, जिससे एक देश दूसरे देश के ऋण को तुरन्त चुका दे। जिस तरह से किसी व्यक्ति को ऋणदाता के ऋण को ठीक समय पर चुकाने के लिये, जिस तरह से किसी बैंक को अपने सदस्यों की जमा की हुई रकम को मांग होने पर लौटाने के लिए यथोचित पूँजी को तरल-अवस्था में रखना पड़ता है उसी तरह देश को भी। व्यक्ति या बैंक को देशी सिक्रा (कोश-प्रवेश्य नोट भी) रखना पड़ता है, देश को सोना (और ऋणत्व के सूचक ड्राफ्ट से भी उसको काम लेना पड़ता है)—(१) निर्यातों को बढ़ाना और (या) आयातों को रोकना—इसके लिए देश के व्यव-स्तर को को कम करना होगा ; मजदूरी की सूद दरों को घटाना होगा, पत्र-मुद्रा के कोष को संचालन करके मूल्यों को गिराना होगा। निर्यातों को प्रोत्साहित करने के लिए आर्थिक संरक्षण या सहायताएँ दी जा सकती हैं। आयातों को रोकने के लिए उनका सम्पूर्ण निषेध करना होगा, या कोटा की प्रणाली चलायी होगी या आयात-कर (चुंगी) लगान होगा। (२) देशीय मुद्रा का अवमूल्यन (डिमैलूएशन)

करना—इससे घरेलू चीजें विदेशों के लिए सस्ती बनाई जायेंगे लेकिन अगर बाकी देश में ऐसा करने लगें तो इससे कोई लाभ नहीं होगा, क्योंकि यह एक ही साथ जुड़े कई टैपों (वाटर-पाईप) के एक साथ खुल पड़ने—जैसा होगा । (३) अपस्फीति (डिफ्लेशन) करना :—मुद्रा-कोष के संकोचन से देश का सामान्य मूल्य-स्तर नीचे गिरेगा, चीजों की कीमतें घटेंगी और इससे निर्यात बढ़ेगा, आयात कम होगा । लेकिन इसमें खतरा है कि देश में बेकारी बढ़ जा सकती है और मन्दी फैल जा सकती है । अतएव बड़ी सावधानी के साथ इसकी कार्यान्वित करना है । (४) विनिमय नियन्त्रण का सहारा लेना—चूँकि अवमूल्यन अस्थायी प्रभाव डालने वाला होता है और चूँकि अपफीति भयानक होती है, इसलिए इनकी अपेक्षा वह देश विनिमय नियन्त्रण का सहारा ले सकता है । सरकार वैदेशिक विनिमय को नियन्त्रित करेगी । उसके पास सबको वैदेशिक मुद्राओं को जमा करना होगा और वह लाइसेन्स के द्वारा आवश्यकतामुसार उनको स्वयं खर्च करेगी और खानगी व्यापारियों को उन्हें देगी ! (५) १९४४ के बाद अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक निधि (आई० एम० एफ०) कायम हुई है । उसका काम अन्तर्राष्ट्रीय पावना के लेखा संतुलन को दृढ़ रखना और किसी देश के पावना-लेखा में असंतुलन होने पर उसको उससे निवृत्त होने में यथासंभव सहायता करना है ।

अप्रतिकूल पावना-लेखा वाले देश की आयोपार्जन-शक्ति न्यून होने लगती है । इसके लिए उपरोक्त यत्नों में से एक या कुछ या सबको उसे अपनाना पड़ता है । इन यत्नों को स्थूल दृष्टि से हम इस तरह रख सकते हैं—(१) उत्पादन के ढंगों और संगठन में सुधार और विकास करना—इनके द्वारा वह उन चीजों को उत्पादित करने में निपुण हो जा सकती है जो विदेशियों द्वारा पसन्द की

जाती है। उसको उनके हाथ सस्ते दाम पर बेच सकेंगे। क्योंकि उनका उत्पादन-व्यय उसको कम पड़ता है। यह अधिक निपुणता-पूर्वक उत्पादन करने का प्रश्न है जो “तुलनात्मक व्यय” सिद्धान्त में आता है। इससे उसके निर्यातों की एक इकाई उसके आयातों की एक इकाई से अधिक खरीदेगी। (२) चूँकि विदेशियों को पहले से कम दाम पर चीजें वह देगा, इसलिए उनके पास कुछ क्रय-शक्ति बच रहेगी जिससे उनकी मांग-तालिका उन चीजों के लिए पहले से बढ़ जायगी। इससे वह अधिक चीजों को बेच या निर्यात कर सकता है। इन दोनों साधनों से उस देश की आयोपार्जन-शक्ति पूर्ववत् होगी और आयात-निर्यात या पावना-लेखा की समस्या हल होगी। यदि इन दोनों से उसका काम नहीं चलता तो तो उसको कम-से-कम अपने पावन-लेखा को ठीक करने के लिए विदेशों से अधिक वार्षिक ऋण लेना होगा। (पूँजी-खाता) कुछ लोग सोचते हैं कि विदेशी पूँजी या ऋण लेना “पूँजी-उपभोग” अर्थात् पूँजी पर जीवन-वसर करने के सदृश है और तदर्थ उसको हतोत्साहित करना चाहिए। लेकिन यह सोचना गलत है। अगर वह देश एक वर्ष में जितनी पूँजी ऋण में लेता है उससे अधिक नई पूँजी अपने यहां हर साल बनावे (पूँजी-निर्माण) तो पूँजी ऋण लेना घातक नहीं हो सकता। लेकिन यदि वह देश जितनी पूँजी एक साल में ऋण लेता उससे कम मूल्य को पूँजी उस साल में रख छोड़ता है तब तो यह अवश्य ही पूँजी-उपभोग कहा जायगा और वह देश उस हद तक विदेशी ऋण का देनदार होगा। इतना ही नहीं, अगर वह अधिकाधिक मात्रा में पूँजी उधार लेता है तो इससे वैदेशिक ऋण का बोझ भारी होता जायगा और उसको दोने में कठिनाई होने लगेगी। वैदेशिक ऋण पर काफी सद भी प्रतिवर्ष देना पड़ेगा। यह भी विचारणीय है। अतएव यह तीसरा यत्न केवल दीर्घकाल में हमारी मदद कर सकता है। (४) सबसे होशियारी की बात होगी कि वह कोशिश करे कि

अपनी सामर्थ्यानुसार आयात कर सके। “तेती पाँच पसारिए जेती लम्बी सौर”। बिना साधन का अधिक लाम-काफ ठीक भी नहीं होता, शोभा भी नहीं देता। यह दो में से किसी एक तरीके से हो सकता है—(अ) वह कुछ ऐसी चीजों को न मँगावे जिन्हें वह मँगाता तो है लेकिन जिनके बिना उसका काम चला भी जा सकता है। (बढ़िया, रूईदार रजाई के बदले मामूली, मोटी कम्बल से भी जाड़ा जा सकता है ! (ब) उन चीजों को वह अपने यहाँ बनावे। अगर वह बाहर से खाद्यान्न मँगाता है तो कम मँगावे और भरसक कोशिश करे कि उनको अपने यहाँ उपजा ले। अगर वह अपने यहाँ की चुलचुली तितलियों के साज-शृंगार के लिए, मनोरंजन-दिलबहलाव के लिए, कमनीयता में चार चाँद और लगाने के लिए आराम तथा विलास की चीजें मँगाता है तो उसका मँगाना बन्द करे और उनसे कहे कि अपने रेशमी-फिलमिलाते पंखों से रंगों की धूँवि कम उड़ावें, जरा बहार की दुनिया से काम की दुनिया में बिचरें !

— — —

नवीन अर्थशास्त्र की रूप-रेखा

हमारी आर्थिक प्रणाली (INTERMEDIATE ECONOMICS)

लेखक

प्रोफेसर केदारनाथ प्रसाद, एम० ए०

अर्थशास्त्र—विभाग,

पटना कॉलेज, पटना-विश्वविद्यालय